विवेक विवेचन

केदारनाथ अग्रवाल

विवेक-विवेचन

केदारनाथ अग्रवाल

साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

I S B N : 978-81-7779-221-8

❁

प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद–3

दूरभाष : 2400787, 2402072

❁

लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

❁

स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल

❁

संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2010

❁

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

❁

अक्षर–संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद–2

❁

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद–3

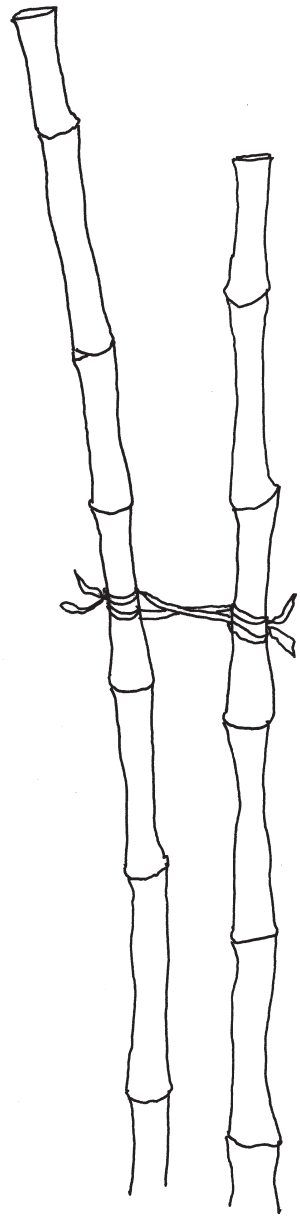

मूल्य : 175.00 रुपये मात्र

विवेक-विवेचन

प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल
विभोर अग्रवाल
2010

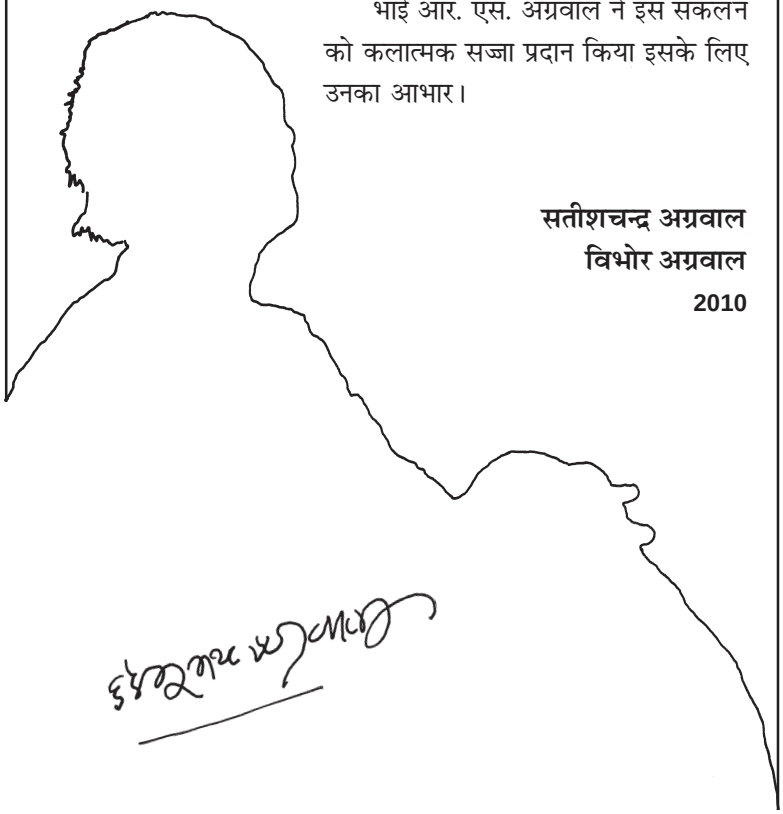

भूमिका

गद्य की इस पुस्तक में मेरे कुछ प्रकाशित तथा शेष अप्रकाशित लेख हैं।

श्री कमलाप्रसाद (सागर विश्वविद्यालय) ने मेरे सागर पहुँचने पर, मेरा इण्टरव्यू लिया था। उन्होंने साहित्य और काव्य से सम्बन्धित अनेक प्रश्न किये थे और मैंने उनके उत्तर दिये थे। यह साक्षात्कार 'पूर्वग्रह' में पूरा-का-पूरा छप चुका है और उसका स्वागत भी हुआ है।

डॉ० आशा गुप्त के काव्य-संकलन-'आकाश-कवच' की भूमिका मैंने ही लिखी थी। वह भी इस पुस्तक में दे रहा हूँ।

इसके अतिरिक्त श्री दिविक रमेश की कविताओं के संकलन 'रास्ते के बीच' को पढ़कर मैंने एक लम्बा विवेचनात्मक लेख लिखा। वह 'लहर' में प्रकाशित हो चुका है। उसे भी दे रहा हूँ।

अ० प्रसाद दीक्षित की पत्नी श्रीमती राज दीक्षित की कविताओं को लेकर मैंने एक लम्बे लेख में विवेचना प्रस्तुत की। वह लेख भी इस पुस्तक में सम्मिलित कर रहा हूँ।

इन कवियों की कविताओं के सम्बन्ध में मैंने जो आलोचनात्मक प्रयास किया है, वह कहाँ तक स्वीकार किया जा सकेगा और उसकी क्या मानसिक परिणति होगी, यह मैं नहीं जानता? लेकिन मेरा अपना विचार यही है कि किसी भी कवि की प्रत्येक कविता को जाँच-परखकर ही उसके काव्य का आकलन करना चाहिये। होता यह रहा है कि आलोचकगण कुछेक चुनी हुई कविताओं को लेकर उसके सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष और निर्णय प्रस्तुत कर देते रहे हैं। ऐसी आलोचना से न तो कवि का, न पाठक का और न साहित्य का भला होता है। मेरी अपनो यही धारणा है कि होना वही चाहिये, जैसा मैंने करने का साहस किया है।

मेरे मित्र स्व० नरोत्तम नागर इलाहाबाद से साप्ताहिक 'अभ्युदय' निकालते थे। उन दिनों 'तरुण' में श्री रघुपति सहाय 'फिराक' का एक लेख हिन्दी को लेकर छपा था। मैंने उस लेख को पढ़ा तो मुझे लगा कि 'फिराक' साहब पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं। जो कुछ उन्होंने हिन्दी को लेकर लिखा है, वह उनका अपना निजी दृष्टिकोण है। मैंने उनके दृष्टिकोण को परखा और फिर हिन्दी और उसके साहित्य के विषय में अपने वस्तुपरक विचार व्यक्त किये। नागर जी ने मेरा लेख पाकर उसे 'फिराक साहब' के पास भेजा तथा उनसे उसके विषय में उनके विचार जानने चाहे। उन्होंने मेरा लेख पढ़ा और पढ़ने के बाद नागर जी को अपना सूक्ष्म-सा अभिमत भेजा। नागर जी ने इस पृष्ठभूमि के साथ, अपने 'अभ्युदय' में, मेरा लेख और फिराक साहब का सूक्ष्म उत्तर एकसाथ छापा। इस

लेख को भी मैंने इस पुस्तक में शामिल किया है, ताकि हिन्दी और उसके साहित्य के विषय में जो भ्रान्तियाँ फैली हैं, वे मिट सकें। हिन्दी जन-जीवन के भीतर से फूटकर, मानवीय चेतना में प्रविष्ट हुई है और वहाँ से जीवन की सृष्टि को साहित्य में रूपान्तरित करती रही है।

मुझे वकील होने के बाद जीवन को अधिक निकट से समझने और पहचानने का अवसर मिला। लेकिन बिना किसी वैज्ञानिक जीवन-दर्शन के मैं इस संसार को और इसके आदमियों की गतिविधियों को समझ सकने में अपने को अक्षम पाता रहा। जब मैंने लेनिन के संज्ञान के सिद्धान्त को समझने की कोशिश की और यह जाना कि जीवन को उसकी समग्रता में समझना और अन्तर्विरोधों के कारणों का पता लगाना चाहिये और ऐसा करते-करते सत्य का नैकट्य प्राप्त करना चाहिये, तभी संसार और आदमियों के पारस्परिक सम्बन्धों का पता चला और आदमी में मेरी सघन आस्था उत्पन्न हुई और मैं उपनिषद् के ब्रह्म और गीता के प्रवचन और ब्रह्म-सूत्र से अपने को मुक्त कर सका। इस तरह से मेरा गद्य मेरी ऐसी बन रही मानसिकता को व्यक्त करने लगा। मैं समझता हूँ कि यह दिशा और दृष्टि सही दिशा और दृष्टि है।

अलावा उपर्युक्त लेखों के और भी लेख हैं जिनका उल्लेख करना मैं उचित नहीं समझता। पाठक स्वयं उन्हें पढ़कर अपनी अवधारणा बनाएँगे।

इस पुस्तक में चार-पाँच लेख ऐसे भी है, जो बाँदा प्रगतिशील लेखक संघ के द्वारा चित्रकूट में आयोजित, 'लेखक शिविर' में मैंने पढ़े थे और उनपर विचार-विमर्श किया गया था।

अन्त में मैं बाँदा के प्रगतिशील विचार-धारा के लेखक और कवि सर्वश्री अजित पुष्कल, डॉ० रणजीत, डॉ० चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित', प्रो० रामप्यारे राय, डॉ० अशोक त्रिपाठी, गोविन्दप्रसाद साँवल एडवोकेट, देवेन्द्र खरे, कृष्णमुरारी पहारिया, एहसान आवारा, मोजेस माइकेल, रामशंकर मिश्र, जयकान्त शर्मा, मधुकर खरे, गिरिजाकान्त त्रिपाठी, गोपाल गोयल, आनन्द सिन्हा, अनिल शर्मा, शक्तिकान्त, कौशल किशोर गुप्त, डॉ० रामगोपाल, अवधविहारी, हरिकृष्ण गुप्त, अशोक त्रिपाठी जीतू, रामकृष्ण मिश्र विमलेश—के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। इनका समय और सहयोग मुझे निरन्तर मिलता रहा है।

श्री शिवकुमार सहाय ने इस पुस्तक के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लेकर मुझे भार-विहीन कर दिया है और मैं हल्का महसूस करता हूँ। मैं इनका भी आभारी हूँ।

श्री ओंकार शरद ने मेरे प्रकाशक को अपना सक्रिय सहयोग देकर मुझे ऋणी बना लिया है। मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

बाँदा

16-2-81 **— केदारनाथ अग्रवाल**

❑

)

अनुक्रम

विवेचना	....	**9**
प्रेमचन्द की विरासत और प्रगतिशील लेखन	....	11
चाबुक	....	19
लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धता	....	28
गीत-काव्य जन-मानस के आईने में	....	30
नये लेखकों की दृष्टि-भ्रम और उसका निराकरण	....	35
समान्तर फिल्म : दृष्टि और दिशा	....	38
समीक्षाएँ	....	**43**
कविताएँ श्रीमती राज दीक्षित की	....	45
दिन के तारे	....	51
रास्ते के बीच : दिविक रमेश का काव्य-संकलन	....	54
अमृतराय के उपन्यास 'बीज' का विवेचन	....	71
सतरंगे पंखोंवाली	....	76
आकाश-कवच	....	81
साक्षात्कार	....	**95**
बातचीत	....	97
सवाल समकालीन साहित्य की स्तरीयता का	....	111
रचना के प्रति प्रतिबद्धता	....	115
कविता के सम्बन्ध में	....	120
एक साहित्यिक साक्षात्कार	....	124

विवेचना

प्रेमचन्द की विरासत और प्रगतिशील लेखन

प्रेमचन्द शनिवार के दिन, 31 जुलाई, सन् 1880 ई० को बनारस से 4 मील दूर वाले गाँव लमही में पैदा हुए थे और 8 अक्टूबर, सन् 1936 को इस संसार से चल बसे थे। सन् 1902 में, उनके दो-एक उपन्यास निकले–'हम खुरमो'–'हम सवाल' और 'कृष्णा'। सन् 1907 में उन्होंने कहानियाँ लिखनी शुरू कीं। उनकी पहली कहानी कानपुर के उर्दू मासिक 'ज़माना' में प्रकाशित हुई थी। इसका नाम था–'संसार का सबसे अनमोल रतन।' इस तरह से प्रेमचन्द के रचना-काल का निर्धारण हो जाता है कि उन्होंने सन् 1901 ई० से लेकर सन् 1936 ई० तक अपना लेखन-कार्य किया। वे 36 साल की अपनी गाढ़ी मानसिक कमाई युवा पीढ़ी को दे गये।

सन् 1936 तक के भारतीय समाज की जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और साहित्यिक तथा सांस्कृतिक स्थिति रही, उससे सभी परिचित हैं। इस कालखण्ड में रूस की महान् अक्टूबर क्रान्ति घटित हुई और समाजवादी राजनीति की स्थापना का विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के छद्मवेशी मानववाद का और उसके अमानवीय व्यवहारों और क्रिया-कलापों का पर्दाफाश होने लगा। अपने देश में राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न हुई। स्वाधीनता प्राप्त करने की लड़ाई का संघर्ष उत्तरोत्तर, तीव्र होता गया और जन-जीवन में व्याप्त जड़ता टूटने लगी। किसान-मजूर में अपने अधिकारों के लिए ललक पैदा हुई और वे राष्ट्रीय स्तर पर चल रहे आन्दोलन में सम्मिलित होकर अपना सक्रिय सहयोग देते रहे। इन सबकी बदौलत, धर्मान्धता, अन्ध रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिकता, जाति-पाँत की विषमता, ऊँच-नीच के भेदभाव और उसके साथ-ही-साथ तत्कालीन प्रान्तीयता, क्षेत्रीयता और सामन्ती संस्कारों की जकड़बन्दी कम-से-कम होती चली गयी और भारतीय जन-मन की मानसिकता स्वाधीनता प्राप्त करने के एकमात्र लक्ष्य से निरूपित होती रही।

भाषायी कट्टरपन और अतीतोन्मुखी पश्चगमन के भ्रम कम-से-कम होते गये। आदमी को आदमियत की पहचान हुई। वह उसे अपने ही देश में, अपने ही पारस्परिक सम्बन्धों के परिवेश में, यहाँ-वहाँ, घर के भीतर और घर के बाहर, सब जगह तलाशने लगा और विश्व के रंगमंच पर हो रही घटनाओं से, उनकी वास्तविकताओं से, अपना चिन्तन सँवारने लगा।

साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसी समानान्तर प्रतिक्रियाएँ प्रकट हुईं और परम्परागत साहित्यिक अवधारणाओं का आकर्षण कम होने लगा। सामन्ती मानसिकता के भाववादी

अवशेषों की गुञ्जलक खुलने लगी। साहित्यकार जन-जीवन के संघर्ष से और उसकी आशाओं और आकांक्षाओं से अपना साहित्य-सृजन करने लगा। साहित्य, जो उस समय तक कुछेक विद्वानों के द्वारा ही सम्पादित और संस्कारित हो रहा था, वह दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने के लिए लिखा जाने लगा। लोक-चेतना सुधारवादी चेतना का रूप लेने लगी। मालिक-मजूर, जमींदार और किसान, अफसर और क्लर्क आदि-आदि के बीच की खाईं दक्षिणपन्थी मनोवृत्ति की सदाशयता से पाटी जाने लगी। वामपन्थी चेतना अभी सन् 1925 में ही प्रकट हुई और कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। यह पार्टी वामपन्थी के चेतना से लोक-चेतना को प्रभावित करने लगी, लेकिन दक्षिणपन्थी राजनीति और राजतन्त्र के आपसी तालमेल की वजह से दमित और दण्डित होती रही। ऐसी दशा में सन् 1936 की अप्रैल में प्रगतिशील लेखक-संघ का पहला अधिवेशन लखनऊ में हुआ। यह अपने देश के साहित्य के लिए एक युगान्तरकारी घटना थी। इस अधिवेशन में देश के हिन्दी और उर्दू के अनेकानेक तथा अन्य प्रान्तों के साहित्यकार भी सम्मिलित हुए। हमारे प्रेमचन्द इसके अध्यक्ष हुए और उन्होंने आये हुए साहित्यकारों को सम्बोधित किया। अपने इसी भाषण में उन्होंने कहा—

''साहित्यकार या कलाकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है, अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार या कलाकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी प्रतीत होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है—हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।''

उनका यह वक्तव्य तब भी सच और सही की अभिव्यक्ति करता था और आज तक साहित्य के बारे में सच और सही है। वास्तव में उनका यह भाषण देश की जनता की सही मानसिकता बनाने के लिए दिया गया एक ऐतिहासिक घोषणा-पत्र है। वह बातें जो प्रेमचन्द ने कहीं, वह अकाट्य, तर्कसम्मत, वैज्ञानिक विचार-बोध से सम्पुष्ट, राष्ट्रीय हितों का सही आकलन करनेवाली हैं। उनसे एक ऐतिहासिक और यथार्थवादी चिन्तन को दिशा और दृष्टि मिलती है। वर्ग-विभाजित अपने देश के साम्पत्तिक सम्बन्धों के विरोध में उनका यह भाषण लेनिन की 'कागनिशन' के सिद्धान्त के अनुरूप है। लेनिन भी सत्य की खोज में आदमी की चेतना को लगे रहने के लिए प्रेरित करते हैं और उसे उसका नैकट्य प्राप्त करने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहने को, जूझते रहने को, प्राणपण से जुटे रहने के लिए आवाज देते हैं और जीवन को उसकी समग्रता में जाँचने-परखने की दो टूक बात कहते हैं। प्रेमचन्द ने सम्भवत: लेनिन के इसी सिद्धान्त को अपने शब्दों में व्यक्त किया है। प्रेमचन्द राजनीतिक कार्यकर्त्ता या नेता नहीं थे। वह कलम के सिपाही थे, संकट से पढ़-लिख सके थे और दु:खी जीवन झेलते हुए पहले-

पहल रु० 18-50 मासिक वेतन पर सहकारी अध्यापक बने थे। फिर 1902 में ट्रेनिंग कॉलेज, इलाहाबाद में भर्ती हो गये। 1905 में उन्होंने जूनियर क्लास के शिक्षक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। बाद में माडल स्कूल के हेडमास्टर हो गये। 1909 में बी० ए० पास कर सके, अंग्रेजी, इतिहास और फारसी विषय लेकर। इस मुदर्रिसी जीवन की एक झलक उनकी कहानी 'बोझ' से मिलती है। कहानी में पं० चन्द्रधर कहते हैं–

''मुदर्रिसी तो कर ली थी, किन्तु सदा पछतावा करते थे कि कहाँ से इस जंजाल में आ फँसे। यदि किसी अन्य विभाग में नौकर होते तो अबतक हाथ में चार पैसे होते, आराम से जीवन-बसर होता। यहाँ तो महीने भर प्रतीक्षा करने के पीछे वही रु० 18-50 देखने को मिलते हैं। वह भी इधर आये, उधर गये, न खाने का सुख, न पहनने का आराम। हमसे मजूर ही भले।''

प्रेमचन्द जबतक रूसी क्रान्ति से परिचित और प्रभावित नहीं हुए थे, तबतक उनकी चेतना आर्यसमाजी, सुधारवादी, यथास्थिति में परिवर्तनकामी होते हुए भी उस आदर्शवाद के अधिक निकट थी, जो हमारे देश में व्यक्ति को वैयक्तिक आत्मोन्नति की ओर ले जाता था और सामाजिक तथा साम्पत्तिक सम्बन्धों के बने-बनाये संसार में आमूल परिवर्तन करने को बाध्य नहीं करता था। वह नरम दलीय विचारधारा के पक्षपाती न होते हुए भी तबतक गरम दलीय राजनीति को समझने में लगे हुए थे और कालान्तर में और अपने जीवनकाल में ही उस वामपक्षी विचारधारा से अपनी सहमति प्रकट करने लगे थे, जो ऐतिहासिक क्रम में लिखी गयी उनकी कहानियों और उनके उपन्यासों के कथानक और उनके पात्रों में और उन सबकी संरचनात्मक बुनावट में व्यक्त हुई। इससे उनकी और लोक की चेतना का स्वरूप सहज ही सामने आ गया। इससे पता चलता है कि प्रेमचन्द अपने समूचे लेखन-कार्य में कहीं भी एक क्षण को न डगमगाये, न डिगे, कि सत्य से कटकर, असत्य के दाँव-पेंच में पड़ जायें। वह पैदा हुए पुरानी संस्कारी परम्परा के समाज में। वह जिये उसी समाज की गरीबी और लाचारी को झेलते हुए और उससे संघर्ष करते हुए। वह रूढ़ियों, कुरीतियों, अन्धविश्वासों, अनाचार, अत्याचार आदि-आदि तरह-तरह के अमानवीय आचरणों से देश की जनता को भटकते और दिग्भ्रमित होते हुए देखकर स्वयं सर्वव्यापी उत्पीड़न से त्रस्त होते रहे और उनकी खूबी यही रही कि इसपर भी वह मरते दम तक ऐसी भयंकर स्थितियों से अपने सुख और स्वार्थ के लिए समझौता नहीं कर सके। वे न बिक सके, न नीलाम हो सके। वह उत्तरोत्तर उसी ओर-उसी सार्वजनिक जीवन-प्रभात की ओर बढ़ते चले गये, जो नये सूरज की समाजवादी चेतना से प्रगतिशील होकर देश का भविष्य, सत्य से निरूपित कर सकने में सक्षम हो सकता है। उनके समकालीन दूसरे साहित्यकार अपनी कहानियों और उपन्यासों में ऐसा सशक्त विचार-बोध नहीं व्यक्त कर सके। यह सही समझ की वजह से ऐसा हुआ। प्रेमचन्द के पास यह समझ थी, जिसे उन्होंने पहले तो व्यावहारिक जीवन से पाया और बाद को देश और दुनिया की गतिविधियों से प्रगतिशील बनते चले गये।

आश्चर्य से चकित रह जाना पड़ता है। यह देखकर कि वह व्यक्ति, जो अपने लड़कपन में 'तिलस्मे होशरूबा' के पाँच-सात भाग खतम कर चुका हो और ऐयारी और तिलस्मी कथानकों में सैर कर चुका हो, वह कैसे वहाँ से बाहर निकल सका और भारत की धरती की युगीन समस्याओं से साक्षात्कार करने लगा और तथाकथित बनी-बनायी, साहित्यिक अवधारणाओं से अपने को मुक्त कर सका, ताकि वह जीवन की दौड़ में और लेखन-कर्म में फिसड्डी न रह जाय।

इसलिए प्रेमचन्द के उत्तराधिकार (विरासत) पर विचार-विमर्श तभी सही-सही किया जा सकता है, जब उनके समस्त कृतित्व को उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम में पढ़ा व समझा जाय और फिर प्रेमचन्द की मानवीय चेतना को ऐतिहासिक कालक्रम में ग्रहण किया जाय। इन दिनों कोई तो प्रेमचन्द को सुधारवादी, कोई तो गान्धीवादी, कोई कोरा यथार्थवादी, कोई तो कोरा आदर्शवादी, और कोई तो चरम वामपन्थी विचारधारा का प्रवर्त्तक कथाकार घोषित करता है। यह देखकर बड़ा क्षोभ होता है कि प्रेमचन्द को किसी एक खेमे का कथाकार बनाकर उन्हें वहीं कैद किया जाय। वह जिस विन्दु से चलकर 'गोदान' और 'मंगल सूत्र' के चार अध्याय तक पहुँचे हैं, वह रेखा कोई एक सरल-सीधी रेखा नहीं है। उनकी यह यात्रा देश-काल को चीरती हुई कई-कई प्रस्थान-विन्दुओं से निकलती हुई आगे-ही-आगे को बढ़ती चली गयी है। यदि वह किसी दक्षिणपन्थी राजनीतिक दल के पथ से चले होते, तो उनका लेखन भी वैसा होता और वहाँ तक पहुँचने की उनकी सारी सम्भावनायें कब की समाप्त हो चुकी होतीं।

प्रगतिशील लेखकों ने प्रेमचन्द की इसी विरासत को अपनाया है और उसे ही विकसित करते हुए वे आगे बढ़ रहे हैं। प्रेमचन्द का पथ प्रगतिशील लेखकों का पथ है। प्रेमचन्द की वैज्ञानिक और समाजवादी समझ की निष्पत्ति का लेखन ही प्रगतिशील लेखकों के लेखन की निष्पत्ति है। इसके अतिरिक्त जो भी लेखन के दूसरे मार्ग प्रस्तुत किये गये हैं, वे भ्रम-भूल और भटकाव के मार्ग हैं, जिनपर चलते-चलते नये किस्म का मात्र वैयक्तिक, निजी लेखन लिखा गया। वह एकाकी आत्मतुष्टि का लेखन है। इसी तरह जो लेखन मात्र मानसिक ग्रन्थियों का तज्जनित तथाकथित मनोवैज्ञानिक लेखन है, वह भी प्रच्छन्न रूप से अमानवीय लेखन है। इसी तरह जो लेखन केवल कलात्मक अभिरुचियों के निरूपण का निर्वाही लेखन है, वह भी मानव-मूल्यहीन, अग्राह्य लेखन है। इसी तरह जो लेखन जीवन के जटिल यथार्थ से विमुख होकर लिखा जाता है, वह लेखन-विरोधी लेखन होता है। ऐसे ही, जो लेखन अब भी धनी-मानी व्यक्तियों के वर्गीय जीवन का पर्दाफाश नहीं करता, वह लेखन भी विवेकहीन लेखन है।

प्रगतिशील लेखन, चाहे वह साहित्य की जिस विधा का लेखन हो, निश्चय ही वही लेखन होगा, जिसका शुभारम्भ प्रेमचन्द ने किया, जो अब भी जीवन्त बना हुआ है और नयी पीढ़ी को अनुप्राणित कर रहा है। साहित्य में सब रंग-रूप का लेखन हो, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लेखक का व्यक्तित्व ही अपने व्यक्तित्व को रचता रहे,

जनता से बचता रहे, राजतन्त्र से कटता रहे और केवल शिल्प और सौन्दर्य के निरर्थक अमूर्त लोक का अजनबी चित्रण करता रहे।

सन् 1936 के बाद कथा-साहित्य में इतना अधिक विस्तार से लिखा गया कि उस सबके विषय में मेरे लिए कुछ कहना न्यायोचित न होगा; क्योंकि मैं स्वयं उस सबसे न तो घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहा हूँ और न मैंने उस सबको पढ़कर ही मनन-चिन्तन किया है। तिसपर भी मैं यह साधिकार कह सकता हूँ कि कई छोटे-बड़े कहानीकारों और उपन्यासकारों ने प्रेमचन्द के दिखाये मार्ग पर चलकर प्रगतिशील परम्परा को नये जीवन से जोड़ा है और उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति की है। उनकी कृतियों की सराहना भी लोगों ने की है। इसके विपरीत ऐसा भी बहुत-कुछ कथा-साहित्य में लिखा गया है, जो प्रेमचन्द की विरासत का नहीं कहा जा सकता। केवल मुक्त होकर ऐन्द्रिक प्रभावों की अपनी जीवन-गाथा बनाकर जन-जीवन की गाथा के रूप में प्रस्तुत करना, यह प्रेमचन्द की विरासत के सर्वथा प्रतिकूल पड़ता है, ऐसा मेरा विचार है। महानगरीय मानसिकता की वे तथाकथित कहानियाँ या उपन्यास, जो कामुक चित्रपट की तरह लिपिबद्ध किये जा रहे हैं, वे इस आधार पर स्वीकार योग्य नहीं कहे जा सकते कि उनके कथानक यथार्थ को व्यंजित करते हैं और ऐसी अभिव्यंजना से समाज के कुछेक 'टैबूज' टूटते हैं और जीवन को जीवन के भीतर ही पकड़ा और परखा जाता है और कहानी हो या उपन्यास अपने-आप में कोई उपलब्धि नहीं है। उनके उपलब्धि होने के लिए उन्हें समाज के युगीन दृश्यफलक को प्रगतिशील मानव-मूल्यों से विरचित करके ही प्रकाशित करना चाहिए। ऐसे साहित्यिक सृजन से न तो व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता खोता है और न वह एकांगी होता है। वस्तुतः ऐसा साहित्यकार सामाजिक दायित्वबोध से प्रेरित होकर अपनी वैयक्तिक विशिष्टता को सार्वजनिक लोक-चेतना में समाहित करता है और उसे विशाल जन-जीवन का विस्तार देता है। यह कार्य आरोपित कार्य नहीं है। समाजवादी दार्शनिक जीवन-दृष्टि से दुनिया को समझना, जन-जीवन को परत-दर-परत देखना और उनके भीतर से उसी तथ्य को पकड़ना पड़ता है, जो अनेकानेक विसंगतियों और विरूपताओं को जन्म देता रहता है और आदमी को आदमी का विरोधी बनाये रहता है। यही दायित्व है, जिसका निर्वाह वांछनीय है, यही सच्चा लेखन-धर्म है।

प्रगतिशील लेखक प्रेमचन्द की विरासत को आगे बढ़ाते हुए चले आये हैं और इस कर्त्तव्य में अबतक उन्होंने कोई कमी नहीं की है। इसीके परिणामस्वरूप, इधर कई कहानियाँ और उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, जिन्हें देखने से पता चलता है कि ग्रामीण जीवन और लोक-जीवन की अभिव्यक्तियाँ भी सशक्त और सजीव रूप से चित्रित हुई हैं। प्रगतिशील लेखक गाँव को भी उतना महत्त्व देता है, जितना नगर या महानगर को देता है। यह जो तथाकथित महानगरीय मानसिकता की ही प्राथमिकता कथा-साहित्य में घोषित की जा रही है और वैसे ही मानसिकता की कृतियों को श्रेष्ठता प्रदान की जा रही है—किसी भी प्रकार से पूर्णतया विवेकसम्मत नहीं कहा जा सकता। शहरी

समस्याओं से बनी मानसिकता और गँवई समस्याओं से बनी मानसिकता अलग-अलग होते हुए भी एक ही यथास्थिति के तन्त्र की वजह से एक ही उद्‌गम से निकली हैं और उनका समाधान भी उस स्थिति का निवारण करनेवाले समाधान से ही होता है। जबतक यथास्थिति और मिश्रित आर्थिक व्यवस्था ही राजतंत्र के संरक्षण में सर्वोपरि बनी रहती है, तबतक जैसे राजनीति के क्षेत्र में संकट व्याप्त रहता है, वैसे ही संकट साहित्य के क्षेत्र में बराबर बने रहने की संभावना है और यह संभावना दिनों-दिन तीव्र-से-तीव्र होती जाती है और साहित्य के सृजन को, मानवीय मानसिकता को, दीन-हीन, दुर्बल और एकांगी बनाती चली जाती है, इस सबकुछ हो रहे को आप सभी जानते हैं। इन सबका विवरण देने की मैं आवश्यकता नहीं समझता।

मध्यम वर्ग एक तरफ तो धनी-मानी प्रभुता सम्पन्न इज़ारेदारों की ओर लालच भरी निगाह से देखता और उनकी तरह का जीवन जीने की कामना करता रहता है और दूसरी ओर नीचे के स्तर के लोगों से जुड़ने से कतराता रहता है और उनको हेय और हीन समझता रहता है। इसी वर्ग के कुछ लोग पढ़े-लिखे होते हैं। यही नौकर-चाकर पेशा के होते हैं, समाज में बाबुई-प्रतिष्ठा प्राप्त करने में जी-जान से जुड़े रहते हैं और अपनी सेवाओं के सम्पादन करने में आये दिन नाजायज पैसा बटोरने में लगे रहते हैं और इसीमें अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं कि जियो—नारकीय व्यवस्था में रहते हुए भी, नारकीय अपहरण करो और दफ्तर से निकलकर घर के भीतर और बाहर सफेदपोश होकर वैसे ही जियो, जैसे मुहल्ले-पड़ोस के धनी लोग जीते और सुख भोगते रहते हैं। इस वर्ग के लोगों का जीवन भी नयी-नयी कहानियों व नये-नये उपन्यासों में आने लगा है। आवश्यकता अभी इस बात की है कि ऐसी कहानियों और उपन्यासों का सृजन भी अधिक मात्रा में हो।

निम्नवर्ग के लोगों के जीवन से अनुप्राणित बहुत कम ही कहानियाँ और उपन्यास मुझे देखने को मिले हैं। ऐसे ही कोलों या आदिवासियों की जिन्दगी से सम्बन्धित कथा-साहित्य की रचना नहीं हुई। इस ओर भी प्रगतिशील कथाकारों को भरपूर प्रयास करना चाहिए। इस दिशा में पुरानी पीढ़ी के प्रगतिशील लेखकों ने अगुवाई की है और कुछेक कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं। यह क्रम चलता और बढ़ता रहे, तो कथा-साहित्य की समग्रता में सराहनीय अभिव्यक्ति होगी।

प्रेमचन्द के कथा-पात्र जीवन को जैसा जीते और समझते थे और जैसा जीवन-यापन करते थे, अब आज के उसी स्थिति के, वैसे ही लोग भिन्न मानसिकता से जीवन जीते हैं और समस्याओं से दूसरी-दूसरी तरह से निपटते हैं। अब ऐसे लोगों की मानकिता समझौता-परस्ती के विरोध में प्रकट हो रही है और वे अपनी हीन भावनाओं से स्वयं को मुक्त महसूस करते हुए चुनौती देने की स्थिति में पहुँच गये हैं और यह भी होने लगा है कि खुलकर मैदान में, दल बाँधकर, विपक्षी से बदला लेने लगे हैं। समाचार-पत्रों से ऐसी सूचनायें मिल जाती हैं, लेकिन रचनात्मक कथा-साहित्य में इसको अपनाये जाने की स्थिति नहीं पैदा हो सकी।

प्रेमचन्द के नारी-पात्र वैसे तो अब भी घरों में बुढ़ियों के रूप में देखने को मिल जाते हैं। लेकिन उन्हीं की नौजवान लड़कियाँ और बहुयें, उन्हीं घरों में रहते हुए भी, अपनी पूर्ववर्त्ती पुरखिनों से सोचने-विचारने, आचार-व्यवहार में, पहनने-ओढ़ने में, सौन्दर्य प्रसाधनों में बदलती जा रही हैं और वह दिन भी दूर नहीं है, जब वह भी अपने अधिकारों के लिए खुलकर संघर्ष करने लगेंगी और आत्मनिर्भर होने की दिशा में और भी जागरूक हो जायेंगी। यह नहीं है कि वे जहाँ हैं वहीं रह जायेंगी। उनका 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला संगठन' अपने देश में उनके हितों की रक्षा के लिए आह्वान करता रहता है तथा तरह-तरह की योजनायें प्रस्तुत करता रहता है। तभी तो अब औरत और मर्द के झगड़े कूचे और कचहरी में पहुँचने लगे हैं और सम्बन्ध-विच्छेद और मुआवजे पाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित हो रही है। देखना यह है कि क्या यह शिक्षा पा रही नौजवान लड़कियाँ अपने शिक्षा पा रहे नौजवान भाइयों की तरह आक्रोशी मुद्रा अपनायेंगी या सदियों से चली आ रही पारिवारिक, सामाजिक परम्पराओं को थोड़ा-बहुत अपनाये रहेंगी और यथास्थिति में मुक्के मारकर भी उसे ढहाने से इनकार करती रहेंगी, पता नहीं क्या होगा? प्रगतिशील लेखकों को इसपर भी कथानक गढ़ने चाहिए और जन-मानस को उससे अवगत कराना चाहिए।

शिक्षण-संस्थानों, शिक्षकों और विद्यार्थियों को लेकर भी मेरी जानकारी में कथा-साहित्य का सृजन नहीं हुआ। शिक्षा-पद्धति पुरानी हो चुकी है। नयी शिक्षा-पद्धति प्रयोगधर्मा होकर रह गयी है और उसका अबतक न तो समाजवादी रूप साकार हो सका है और न जनवादी रूप ही। बेकारी अपनी चरमसीमा पर पहुँच चुकी है। डिग्रियाँ भी पैसे देकर प्राप्त हो जाती हैं। मेहनत करके अध्ययन करने के बाद मिलने वाली डिग्रियाँ भी रोजी-रोटी दिला पाने में, सहायक नहीं होतीं। शिक्षकों की सेवाओं का देश-व्यापी राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ। उनमें भी कम वेतन-भोगी और अधिक वेतन-भोगी स्तर कायम हो गये हैं और शिक्षक भी महँगाई की मार में उन्हीं तरीकों को अपना चुके हैं और आये दिन संघर्षशील प्रदर्शिन करने पर तुल गये हैं। और भी तमाम तरह की कमियाँ चल रही हैं। इन सबका प्रभाव यह पड़ा कि विद्यालय सभ्यता, संस्कृति और चरित्र-निर्माण के सजग प्रहरी नहीं रह गये हैं और वहाँ भी अनैतिकता और भ्रष्टाचार प्रवेश पा गया है। इसी प्रकार शिशुओं की शिक्षा के लिए राष्ट्रीय योजनाबद्ध कार्यक्रम नहीं चलाया गया। धनिकों के लड़के-लड़कियाँ स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करते हैं और गरीबों के लड़के टुटपुँजिया स्कूलों में गुरुवर के इशारों पर पास-फेल होते रहते हैं। जरूरत इस बात की है कि ऐसे कथा-साहित्य का भी सृजन किया जाय, जो नौनिहालों की जिन्दगियाँ बेदतर बनाने में सक्रिय योगदान दे सकें।

राजनीति इतने व्यापक रूप से जन-जीवन को घेरकर, उसे ऐसे अपना चुकी है कि उसी-उसी के नचाने पर वह नाचने लगता है। इसीलिए नेताओं का महत्त्व बहुत बढ़ गया है और वे ही जनता के भाग्य के नियन्ता बन गये हैं। जो व्यक्ति उनके प्रश्रय में आता है, वह तो अपना साधारण जीवन जी लेता है, अन्यथा दूसरे लोग कराहते, काँखते

अपनी गाड़ी धकेलते रहते हैं और तनकर खड़े नहीं हो पाते। नेता भी आपस में लड़ते-झगड़ते और वही हथकण्डे अपनाते हैं, जो किसी भी प्रकार से अच्छे नहीं कहे जा सकते। प्रेमचन्द के जमाने में इसकी शुरुआत हो चुकी थी, क्योंकि स्वयं प्रेमचन्द ने कौंसिलों में जानेवाले वकीलों और पढ़े-लिखे लोगों की आलोचना की थी। अब तो तब से लगभग आधी सदी का और समय गुजर गया है। आब आये दिन यह भी देखने को मिलता है कि विधानसभा और संसद् तक में अशोभनीय व्यवहार अमल में लाये जाते हैं। यह सब भी प्रगतिशील लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण कार्यक्षेत्र प्रदान करता है। प्रेस भी राजनीति के द्वन्द्व में आ गया है। वह भी पीत पत्रकारिता का रूप ले रहा है और जूट प्रेस का प्रभाव भी उसे अपनी ओर खींच रहा है। इस दशा में पड़ा बेचारा प्रेस निर्भीक और निष्पक्ष नहीं होने पा रहा और राष्ट्रीय चेतना के विकास के निरूपण में निरन्तर सहयोगी नहीं बन पा रहा। जूट प्रेस साहित्यिक सृजन की पत्र-पत्रिकायें निकालकर पूँजीपतियों की मानसिकता को प्रश्रय दे रहा है और आये दिन उनके संस्थानों से जनवादी लेखकों को लांछित होकर हटना पड़ता है और इसी प्रकार ऐसी पत्रिकाओं से जनवादी छोटी पत्रिकाओं को, प्रतिद्वन्द्विता के मैदान में जीते रहने पर विवश होना पड़ता है।

इसलिए मैं सभी प्रगतिशील लेखकों से निवेदन करता हूँ कि वे उपयुर्क्त सभी क्षेत्रों में जुड़ें और जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण करते हुए उसको समाजवादी चित्र और चरित्र दें।[1]

❐

---

1. मध्यप्रदेश लेखक संघ द्वारा आयोजित द्वितीय 'भारतीय लेखक शिविर' में दिया गया उद्घाटन-भाषण।

चाबुक

''फूँकों से यह चिराग बुझाया न जायगा

हिन्दी का संघर्ष-रत साहित्यिक और उसका साहित्य बातचीत के नाम पर निरी बकवास न करके फिराक साहब अस्लियत को देखने और समझने का प्रयत्न करें।''

'तरुण' के जून, 1942 के अंक में रघुपति सहाय, एम० ए० की हिन्दी के साहित्यिकों से पहली बातचीत प्रकाशित हुई है। इस बातचीत में आँखें बन्द कर हिन्दी की बुराई की गयी है और उसे उर्दू के मुकाबले इस हद तक नीचा दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि सहाय साहब की अक्ल पर सन्देह होने लगता है और उनसे यह कहने को जी होता है कि वह अब, अपनी तीन-चौथाई उम्र काट चुकने के बाद, बातचीत नहीं कर सकते—केवल बकवास कर सकते हैं। ऐसा मालूम होता है कि सहाय साहब ने अपने पढ़ने के जमाने से लेकर आजतक केवल बातचीत ही की है और भाग्य से उन्हें प्रतिदिन विश्वविद्यालय में भी बातचीत ही करनी पड़ती है। विश्वविद्यालय के काम के बाद भी उन्हें, घर आकर और कोई काम नहीं रहता, केवल बात ही करनी पड़ती है। यह हम जानते हैं, संसार के किसी भी विषय पर कमाल के साथ वह बात कर सकते हैं। विषय चाहे ब्रह्म का हो अथवा शराब पिये किसी बदमाश का। उनकी जबान पैनी और न रुकने वाली है। चाहें तो उसे बेलगाम भी कह सकते हैं। किन्तु यह सोचना कि वह जो भी बात करेंगे, वह अक्ल की होगी नितान्त सही न होगा। फिर पुराना बातूनी और पुराना शराबी— दोनों ही, जब अधिक कालतक अपने व्यसन में पूर्णतया लिप्त रह चुकते हैं और उम्र धँसने पर पहुँचते हैं, तो निकम्मों के सिरताज बन जाते हैं। एक ही जवान केवल उलटती-पलटती रहती है, तो दूसरे की टाँगें डगमगाती रहती हैं। एक जो कुछ कहता है बेसिर-पैर का होता है; दूसरा जो आगे बढ़ने की सोचता है, तो अपने ही स्थान पर गिरकर रह जाता है। सहाय साहब का भी यही हाल है। उनकी बात का कमाल इसमें नहीं है कि वह सही दिमाग से उतरती है, तर्कपूर्ण है, विश्लेषण और संश्लेषण को साथ लेकर चली है, अध्ययन के पहाड़ों पर नदी की तरह चलकर, नीचे के समतल मैदान में प्रशान्त हुई है और अभूतपूर्व स्वर्ण-अन्न की उपज के लिए भूमि को उर्वरा करती है। नहीं, नहीं, ऐसा बिलकुल नहीं है। उनकी बात का कमाल-जमाल इसमें है कि वह बिगड़े और बदहवास मस्तिष्कीय प्रतिक्रिया की देन है। इसे सहाय साहब भले ही अमूल्य और हितकारी समझें, पर कोई दूसरा शख्स उसे ऐसा नहीं समझेगा। वह तो यही कहेगा कि अब सहाय साहब बात नहीं, केवल बकवास करते हैं। इसके सिवा उनसे और कोई उम्मेद करना भी भूल होगी।

बकवासी जब वकवास करता है, तब लोग उसे इसलिए सुनते हैं कि निरर्थक बातों में भी मजा आता है। बकवासी इसलिए बकवास बढ़ाये रहता है, क्योंकि वह समझता है कि लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और जो कुछ भी वह कहता है, वैसा कोई नहीं कह सकता। मेरे पड़ोस का इक्का हाँकनेवाला अधेड़ चौरसिया भी बकवास का सिर ऊँचा किये रहता है। उसके मुँह से कुछ ऐसी औंधी-सौंधी बातें अकसर सुनने को मिल जाती हैं, जिन्हें सुनकर अजरज होता है और मन को यह कहकर समझाना पड़ता है कि दिमाग का पेचकस कहीं ढीला होगा। चौरसिया के विचार राजनीति पर होते हैं, समाज पर होते हैं और देवताओं पर होते हैं। यदि मैं असलियत न जानता होता और राजनीति, समाज और देवताओं से अनभिज्ञ होता, तो अवश्य ही बकवास का शिकार हो जाता। सहाय साहब की इस पहली अनोखी बकवास का असर भी हिन्दी के किसी प्रेमी पर न पड़ेगा। हाँ, उर्दू के हिमायतियों की समझ में यह आ जायगा कि वह अब गर्व से सीना उभारकर, अपने को गालिब,मीर, अनीस और दाग का जायज वारिस घोषित कर सकते हैं और पान की पीक निगलते तथा मुँह से मद्यपान की प्रतिभा प्रकट करते हुए, शान से उस ओर जा सकते हैं, जहाँ हिन्दी के महाकवि सूर, तुलसी और मीरा ने अपना साहित्यिक सौष्ठव स्थापित करके, इस युग के हिन्दी-साहित्यिकों को, सरस्वती की नवीनतम कलात्मक मूर्ति अवतरित करने की अमर इच्छा और साधना दी है।

सहाय साहब की बातचीत के बारे में यह उतनी ही उपयुक्तता के साथ कहा जा सकता है, जितना कि हैमलेट के बारे में कि "There is a method in his madness." मेरा अभिप्रया यह कहने से केवल इतना है कि सहाय साहब ने ऊपरी शिष्टता और विनम्रता की चाशनी देकर अपनी बातचीत को संयत करना चाहा है। सरसरी तौर से पढ़ जाने पर उनकी बातचीत अनियंत्रित अथवा असंयत नहीं प्रतीत होती, किन्तु बुद्धि का स्पर्श पाते ही वह भस्म हो जाती है और उसकी जगह पर सहाय साहब स्वयं बाल बिखराये भी-उर्दू के सामने मजनू की तरह सिर धुनते नजर आते हैं।

यह हिन्दी वालों का अहोभाग्य है कि सहाय साहब उन्हें 'आदरणीय' कहकर सम्बोधित कर सकते हैं। पर यह कह देना उपयुक्त होगा कि हिन्दीवाले न तो उनके इस बनावटी 'आदरणीय' के भूखे हैं, न उनको इस आदर पर कोई गर्व ही हो सकता है। हिन्दी के कवि और लेखक तपस्या और साधना के कायल हैं, व्यर्थ के गौरव के नहीं। यदि हिन्दी वालों में भी इस तरह के गौरव और गर्व को प्राप्त करने की साध हुई होती, जैसी कि उर्दूवालों में शुरू से रही है, तो आज हिन्दीवालों की रचनाओं का प्रचार-क्षेत्र भी बाजार के कोठों तक ही सीमित होकर रह जाता। यह सही है कि गालिब, अनीस, जोश तथा अन्यान्य कवि उर्दू के चन्द हिमायतियों की जबान की लपालप को कायम व बरकरार रखने में पूरी मदद देते रहते हैं, पर इसका यह मतलब नहीं है कि गालिब वगैरह हिन्दुस्तान की अन्तर्वाणी बन गये हैं। मैंने हजारों आदमी देखे हैं, जो अहलकार-ओहदे से किसी-न-किसी प्रकार से सम्बन्धित हैं और मैं कह

सकता हूँ कि मैंने उन्हीं की जुबान पर इन कवियों का नाम अधिक देखा है। यह सत्य कड़वा अवश्य है, पर निर्भीक है। उर्दू का कोई ऐसा हिमायती शायद ही मिले, जिसका सम्बन्ध ऐसे ओहदेदारों से न हो। उर्दू राज-काज की भाषा है। खुशामद की चिकनाई इसके हरूफों और इसके उच्चारण में इस बुरी तरह से चढ़ गयी है कि जबान फिसलती है और सुनते वक्त यही लगता है, जैसे प्रयास ही नहीं पड़ रहा है। यदि इसी को सहाय साहब उर्दू की खूबी कहते हैं और इसपर गर्व करते हैं, तो मुझे अफसोस है। हिन्दी-साहित्य की भाषा विद्वानों, विचारकों, शिष्ट व्यक्तियों और सुधारकों की जीवन-तन्त्री से झंकृत होकर धर्म एवं सत्य, शील और कल्याण के वायुमण्डल में निः सृत हुई है और समस्त दिशाओं में गूँजी है। सहाय साहब को चाहे बीस नहीं चालीस बरस हिन्दू धर्म एवं दर्शन को ग्रहण करने के प्रयत्न में लग गये हों, पर आज तक वह यह नहीं समझ पाये कि हिन्दी भाषा उनके दिल की भाषा क्यों नहीं हो पायी? उनका दिल ओहदेदारों का दिल है। उसमें तड़प है, कसक है, मजनूई बेगानापन है; किन्तु संस्कार-पोषित हिन्दू की शिष्टता और संयम रत्ती भर भी नहीं है। यही कारण है कि सहाय साहब आज असमर्थ हैं कि वह कामायनी और संस्कृत भाषा की वाक्य-कुशलता को समझ सकें। यह उनका नहीं, उनके संस्कारों का दोष है। वह, लाख बार नहीं करोड़ बार यह दम भरें कि उन्हें भी हिन्दी के हिमायती होने का हक है, क्योंकि वह हिन्दू घर में जन्मे हैं, उन्होंने हिन्दू इतिहास, हिन्दू जीवन, हिन्दू साहित्य और कला इत्यादि देखा है, फिर भी वह प्राचीन संस्कारों से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते। यही तो हमारे दुःख का विषय है कि सहाय साहब हिन्दू हैं और अभी तक हिन्दू बने हैं— यही एक अचरज है। लेकिन हम जानते हैं कि हिन्दू घर में पैदा होकर भी कोई दिलो-दिमाग से नहीं हिन्दू हो जाता। बहुतेरे ब्राह्मणी के पेट से उत्पन्न पुजारी के पुत्र होकर भी हिन्दू नहीं विधर्मी होते हैं। यह दलील कि हिन्दू कुल में सहाय साहब पैदा हुए हैं, इसलिए हिन्दी के हिमायती और शुभचिन्तक भी हैं, बिलकुल टकही है। सहाय साहब इस जीवन में तो नहीं बदल सकते। भले ही उस जन्म में किसी हिन्दी-लेखक के घर में जन्म ग्रहण करके हिन्दी की वाक्य-रचना और वाक्य-सौन्दर्य का परिचय वह पा सकें। इस अधेड़ उमर में यदि उनकी समझ में हिन्दी साहित्यिकों की रचनाओं की भाषा नहीं आती, तो बात ही क्या है? रानी केतकी की कहानी, इन्शाअल्ला खाँ की रचनाएँ एवं अमीर खुसरो का अध्ययन कर लेने से ही यदि कोई हिन्दी भाषा का पंडित हो जाता, तो अवश्य ही सहाय साहब भी हो जाते। न जाने किस प्रकार सहाय साहब यह कहते हैं कि ''हिन्दी और उर्दू का साँचा ऐसा मिलता-जुलता है, दोनों में वाक्य-निर्माण के नियम, खूबसूरती और बदसूरती के लक्षण ऐसे मिलते-जुलते हैं कि कम-से-कम 90 हालतों में मुझसे यह कहना निरर्थक है कि मैं उर्दू का आदमी हूँ, उर्दू-कविता का सौन्दर्य समझ सकता हूँ और हिन्दी ''कविता में वाक्य, शैली और शब्द-प्रयोग का सौन्दर्य नहीं समझ सकता। मुझे इस तरह विरादरी से बाहर तो न कीजिए।'' उनका यह कथन भ्रमपूर्ण और निराधार है। यह उन लोगों में प्रचारित अफवाह है, जो ओहदेदार हैं और हिन्दुस्तानी का चरखा चलाना चाहते हैं। यदि व्याकरण को सहाय

साहब ने देखा होता और शब्दों की उत्पत्ति पर विचार किया होता, तो शायद वह ऐसा न कहते। उनके उपर्युक्त उदाहरण से तो यह बात ध्वनित होती है कि हिन्दी में भी उनकी टाँग अड़ी रहे। यदि सात-आठ सौ दफे लिखने के बाद भी सहाय साहब वैसे ही कोरे-के-कोरे हैं तब तो उनकी हालत और भी दयनीय है। इससे यही पुष्टि होती है कि वास्तव में इतने प्रयत्नों के बाद भी यदि सहाय साहब हिन्दी में न समा सके और हिन्दी को न समझ सके, तब तो वह अवश्य ही हिन्दी के लिए निर्मित ही नहीं हुए। वह उर्दू की सोहबत में ही रहे, उसकी आबोहवा में ही अपने तन को गुदगुदाते रहे।

यदि आज सूर, तुलसी, मीराँ और कबीर को यह बता दिया जाय कि आपके कायल सहाय साहब हैं, तो वे भी अपने को धन्य समझेंगे। यह सहाय साहब की बड़ी भारी कृतज्ञता है। सारा हिन्दी-संसार उनके इस भाव का ऋणी रहेगा। भाषा की परख के नाम पर हिन्दी (पचास साल से लेकर आज तक की) को सहाय साहब ने पूरी तरह अपनी कुरुचि का परिचय दिया है। वह कहते हैं कि भाषा में हिन्दीगिरी है, इसीसे हिन्दी असफल है। पहले तो यह सहाय साहब बतावें कि आखिर कबीर की भाषा कितनी मँजी है, वाक्य कितने भरे-पूरे हैं, कितनी जँची-तुली शैली में हैं? कबीर ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, उससे कहीं अच्छी संयत, प्रवाहमयी, रसमयी, पूर्ण भाषा का प्रयोग पचास साल से हिन्दी में हो रहा है। कबीर के युग की भाषा कबीर के युग की प्रचलित भाषा से कहीं पीछे थी। फिर भी कबीर महान् कवि हैं, क्योंकि उन्होंने ऊँची और अमर चीजें दी हैं। पचास साल की हिन्दी की भाषा अपनी शैली में उर्दू को मात करती है। उर्दू से शक्ति, साहस, वेग और अर्थ में हर तरह से वह कई गज आगे है। अच्छा होता यदि सहाय साहब हिन्दी की पुस्तकें खरीद कर हिन्दी की भाषा की प्रगति पर अपनी राय जाहिर करते। यह मैं मानता हूँ कि साहित्य में भाषा भुलायी नहीं जा सकती, पर यह भी इसके मतलब नहीं हैं कि केवल भाषा-ही-भाषा उमड़ी रहे। इस बात को न समझ सकने की वजह से रीति-काल के कवियों में सच्चे साहित्य का समावेश न हो सका था। जिस लहजे, रवानी, ऊपरी शोखी, नाजोअन्दाज, वजन और मुहाविरेवाली भाषा के सहाय साहब उपासक हैं, वह हिन्दी की निगाह में बहुत अच्छी नहीं समझी जाती।

सहाय साहब का यह कहना है कि वह विश्व की किसी भी भाषा को सुनकर उसके अच्छा या बुरा होने की तस्दीक कर सकते हैं, इसलिए हिन्दी भाषा की भी वह परख कर सकते हैं, उसको समझे बिना केवल उसकी ध्वनि सुनकर। मैं तो समझता हूँ कि यदि यह बात सत्य है, तो सहाय साहब को बहुत बड़ा संगीतज्ञ होना चाहिए था। उनके कान के परदे विशेषतया अधिक ग्रहण शक्तिवाले हैं। इसके लिए वह हम सबके बधाई के पात्र हैं। किन्तु यह कहना गलत है कि हर भाषा की ध्वनि की परख, उसकी प्रगति और झंकार की परख अच्छे साहित्यिक को अवश्य होगी। परख तो कोई उसी समय कर सकता है, जबकि उस भाषा के इतिहास को कोई पहले से जानता हो और उस भाषा के स्वर और व्यंजनों से वह पूर्णतया भिज्ञ हो। केवल किसी अपरिचित भाषा

के दो-चार बोल सुनकर उसकी परख कर लेना असंभव है। सहाय साहब का यह दावा बेजा और बेकार है। फिर सहाय साहब यह भी कहते हैं कि परख के लिए अच्छा साहित्यिक होना चाहिए। यह एक दूसरी अड़चन है। इस 'अच्छे साहित्यिक' की क्या परिभाषा है? यह सहाय साहब ने स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने यह मानकर ऊपर की दलील पेश की है कि वह स्वयं अच्छे साहित्यिक हैं। बहुत-से ऐसे सज्जन हैं, जो उन्हें अच्छा साहित्यिक नहीं समझते। वे केवल सहाय साहब को नौजवान विद्यार्थियों का गुरु समझते हैं। यदि अधिक आदर से कहा जाय, तो कहना होगा कि 'गुरु जी समझते हैं' इसी सिलसिले में सहाय साहब ने यह भी कहा है कि वह संस्कृत के श्लोकों पर, उनको बिला समझते हुए, सर धुनते हैं; क्योंकि उनकी ध्वनि उनके दिल की धड़कनों से मिल जाती है। उनका यह कहना भी वैसा ही है जिसेकि हद दरजे का झूठ कहा जा सकता है। हाँ, अगर किसी को बिला वजह सर धुनने की आदत है, तो वह धुनेगा ही। सहाय साहब के उपर्युक्त कथन इतने अप्रासंगिक, अनुपयुक्त, जबरदस्ती ठूँसे हुए और विश्लेषण-विहीन हैं कि हम कह सकते हैं कि सहाय साहब साहित्यिक नहीं हैं और चाहे वह जो कुछ हों।

''सफल उर्दू लेखकों की किताबें आज भी धड़ल्ले से बिक रही हैं। गालिब का दीवान, हाली की रचनाएँ, दाग तक की चुनी हुई गजलों का संग्रह, अकबर की कविताएँ आज हर साल जितनी बिक रही हैं, मामूली किताबों को तो जाने दीजिए, अब से पच्चीस बरस पहले ही सफल-से-सफल हिन्दी रचना भी क्या उतनी बिक रही हैं? आधुनिक हिन्दी का सफल लेखक भी मुश्किल से 20-25 बरस जिन्दा रहता है।'' यह कथन सहाय साहब का ही है। बिक्री से आप हिन्दी-उर्दू की ऊँचाई-निचाई का अन्दाजा करते हैं। न तो आपके पास हर साल छपनेवाली उर्दू की पुस्तकों की तादाद है और न आपके पास हिन्दी की छपनेवाली पुस्तकों की तादाद। न यह कोई इत्तला ही है कि कितनी पुस्तकें बिक गयीं और कितनी-कितनी बाकी रह गयी हैं। बिना आँकड़े दिये इस कथन की कोई सत्यता नहीं मानी जा सकती। यह महज एक गलत तरीका है। इसके अलाव सहाय जी का यह कहना कि हिन्दी की किताबें धड़ल्ले से नहीं बिकतीं, उनके अज्ञान का ही सूचक है। हिन्दी की पुस्तकें जब खूब छपती हैं, तब बिकती भी खूब हैं। बिना माँग के कोई चीज छापी ही न जायगी, इसलिए सहाय साहब यह न कहते तो अच्छा होता। उर्दू की पुस्तकें धड़ल्ले से बिकती हैं, यह भी गलत है। मैंने तो आजतक न देखा कि जहाँ मैं जाऊँ उर्दू की पुस्तकें नजर आयें। मेरे बहुत-से उर्दू के शौकीन मित्र हैं। पर उनके पास उन मशहूर कवियों के दीवान तक नहीं हैं। जिन कवियों का नाम बड़े गर्व से सहाय साहब ने अपनी बातचीत में लिया है। यही नहीं, सहाय साहब ने तो जो ना जानकारी यह कहकर दिखायी है कि—''अब से बीस बरस पहले तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं रामचरित्र उपाध्याय, श्री कमताप्रसाद गुरु, पं० नाथूराम शंकर शर्मा, पं० श्रीधर पाठक, श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री जयशंकर प्रसाद की प्रथम काल की रचनाएँ, श्री

सुमित्रानन्दन पन्त की पहली रचनाएँ किस धूम से बिकती थीं। घर-घर इनकी चर्चा थी। लेकिन आज क्या वह मर न गयीं या केवल पुस्तकालयों की शोभा नहीं बढ़ा रही हैं?'' शायद ही किसी ने आजतक दिखायी होगी। इन कवियों में से एकाध को जाने दीजिए, शेष को सब लोग, देहातों, गाँवों, घरों, स्कूलों में पढ़-पढ़कर अपना जीवन धन्य मानते हैं। शायद, सहाय साहब अपने एकान्तवास की राय ही प्रकट कर रहे हैं। भारतेन्दु के नाटक ही नहीं, कवित्त भी जगह-जगह दोहराये जाते हैं। जिगर और अनीस की पुनरावृत्ति नहीं होती। द्विवेदी जी इस समय भी साहित्य के गद्य-लेखक को अपनी प्रतिभा से जाग्रत करते हैं। मिश्र जी के लेख पढ़कर आज भी हिन्दी का गौरव बढ़ता है। पंडित श्रीधर पाठक की कविताएँ बच्चों की जबान पर हैं। गुप्त जी का 'जयद्रथ वध' खण्डकाव्यों का सिरमौर है ही। प्रसाद का 'आँसू' अब भी दिल को करुणार्द्र कर देता है और अरसे तक करता रहेगा। पन्त की पहली रचनाएँ आज भी बिक रही हैं। उनकी कविताओं के नये संस्करण निकले हैं और बिके हैं। न जाने कहाँ से सहाय साहब को यह भासित हो गया कि गुप्त जी वगैरह इस युग में पढ़े ही नहीं जाते। बेहतर होता कि सहाय किसी देहात की लाइब्रेरी में जाकर उसकी पुस्तकों की सूची देख लेते और पुस्तकों के पढ़े जाने का पूरा-पूरा अन्दाजा लगा लेते। ऐसा करने पर उन्हें ज्ञात हो जायगा कि वह किस हद तक गलती कर रहे हैं। मालूम होता है कि खुद आँख उठाकर वह दुनिया को देखना नहीं चाहते। अपने कमरे में बन्द रहकर ही मनचाहा सोच-विचार लेना सहाय साहब खूब सीख गये हैं।

हिन्दी में लिखे जानेवाले आजकल के गीतों के बारे में भी सहाय साहब अपनी राय रखते हैं। उनकी यह राय भी वैसी ही है, जैसी अक्सर लोग सुनकर, बिना छान-बीन किये, बना लिया करते हैं। इसलिए राय दी गयी है कि राय देनी चाहिए, वरना सहाय साहब का लेख अधूरा रह जायेगा और वह हिन्दी से पूरी तरह परिचित न कहे जायेंगे। सहाय साहब कहते हैं–''कभी कविता की ध्वनि भद्दी होती है, कभी मीठी होती है, तो सीधे-सादे साफ और स्पष्ट वाक्य उसमें नहीं होते, व्याकरण की गलतियाँ होती हैं, शब्द छूट जाते हैं, उनकी तरतीब गड़बड़ होती है, वाक्य टूटे-फूटे, टेढ़े-मेढ़े और अपूर्ण या बहके-बहके हुए होते हैं।'' अच्छा होता यदि सहाय साहब यहाँ पर दो-एक उदाहरण पेश करते और सबूत देते। उन्होंने यही काफी समझा और आगे नहीं बढ़े। मैं तो यह पढ़कर दंग रह गया। आखिर मैं भी तो साहित्य के गीतों को पढ़ा ही करता हूँ। मुझे इनसब बेहूदगियों का भास क्यों नहीं हुआ? या तो मैं अक्ल का अन्धा हूँ या सहाय साहब। पर विश्वास नहीं होता कि मैं अन्धा हूँ। मैं एक नहीं, सैकड़ों गीत उद्धृत कर सकता हूँ। पर सहाय साहब ऐसा नहीं कर सकते। यदि हरेक लेखक के दो-तीन गीत उन्होंने पेश भी कर दिये, तो इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हिन्दी-साहित्य की गति-प्रगति सर्वथा हेय है और इन विशेषताओं की भूखी है। मालूम होता है कि उनकी यह धारणा निर्मूल और भ्रान्तिमूलक है। जिसे वह इतना तुच्छ और हीन समझते हैं, उसे हिन्दी का गर्व कहा जा सकता है। इतने सुन्दर-सुन्दर

भावपूर्ण गीत लिखे जा चुके हैं, जिनकी टक्कर का शायद ही उर्दू में कोई गीत मिल सके। हफीज के गीत सूरदास के गीतों की या अन्य भक्त-कवियों के गीतों की केवल नकल मात्र हैं, जो एक गाँव से दूसरे गाँव एकतारा या मँजीरा बजाते हुए, दरवाजे-दरवाजे, भीख माँगा करते हैं। सहाय साहब ने इन गीतों का कोई जिक्र नहीं किया। यहाँ पर वह एकदम खामोशी, जानबूझ कर या भूल से, साध गये हैं। इस चुप्पी के अर्थ यह भी हो सकते हैं कि उर्दू में इन गीतों की परम्परा नहीं रही, इसलिए उर्दू में संगीत भरे गीत नहीं मिलते। यह भी हो सकता है कि वह जल-भुनकर ईर्ष्या से यह कह पड़े हों। चाहे जो हो, सहाय साहब यदि गीतों के खरे महत्त्व को परखना चाहते हैं, तो प्रसाद के नाटकों के गीतों को देखें, निराला के गीतों की ध्वनि गाकर समझें, पन्त की गीत रचनाएँ पढ़ें और महादेवी के गायन कान खोलकर सुनें। उनका भ्रम टूट जायगा। गजल लिखकर गा लेना या कोकिल कण्ठों से गवा लेने में उर्दू चाहे जितनी बढ़ गयी हो, पर उर्दू में गीत-प्रणाली का पूरा-पूरा अभाव है। इसीसे सहाय साहब इस प्रथा को हिन्दी की मुसीबत समझ बैठते हैं। मैं यह मानता हूँ कि आजकल छोटे-छोटे कवि गीत रचते तो हैं, किन्तु वह भाषा की दृष्टि से पूरे नहीं उतरते। ठीक है, किन्तु परख करने के लिए यह अत्यावश्यक एवं अनिवार्य है कि हिन्दी के प्रमुख कवियों के गीतों को लिया जाय और फिर हिन्दी-साहित्य की संगीत-प्रणाली पर कुछ कहा जाय। मुझे गर्व और हर्ष है कि यदि सहाय साहब इतना कष्ट उठायेंगे, तो तुरन्त ही उन्हें अपनी भूल ज्ञात हो जायगी। यदि साहित्यिक उच्छृङ्खलता कोई हो सकती है, तो वह सहाय साहब ने की है और इसके दोषी वे हैं।

अपने लेख में जिस चतुरता का सहाय साहब ने परिचय दिया है, वह उनकी निजी भी है और उनकी जाति की भी है। किस मिठास के साथ लेख शुरू करके उन्होंने हिन्दी का गला घोंटने का प्रयत्न किया है, यह देखते ही बनता है। हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। हिन्दी के महान् कवि सूर, तुलसी, कबीर आदि के सम्मुख वह माथा टेकते हैं। इस तरह के वाक्यों का प्रयोग स्थान-स्थान पर करके उन्होंने जो हिन्दी की सराहना की, वह उसी तरह है, जैसेकि किसी बलि के बकरे की हत्या के पेश्तर उसको बढ़िया खाना दिया जाये। किन्तु सहाय साहब को मालूम होना चाहिए कि चतुरता विश्व में अपरिमित है और जब ईश्वर ने उन्हें दी थी, तब शायद कम ही बँटी थी। उसके बाद तो उसका वितरण कहीं अधिक मात्रा में हुआ है। हमारी भी आँखें हैं, हम भी दुनिया देख चुके हैं, ध्वनि परखते हैं, कान में केवल मुंशियाना तरीके से कलम नहीं खोंसते और उड़ती चिड़िया उसी तरह हम भी पहचानते हैं, जिस तरह अपने दरजे के विद्यार्थी की शकल देखकर ही सहाय साहब बहुत कुछ समझ लेने का दम भरते हैं। अपने लेख में सहाय साहब ने मुख्यतः हिन्दी-उर्दू की रगड़ लगायी है। हिन्दी कुछ नहीं, किन्तु इसपर भी उसका भविष्य उज्ज्वल है, यह व्यंग्य तो सुनिये। ''होनहार बिरवान के होत चीकने पात'' का ख्याल शायद वह भूल गये थे। उर्दू के चन्द महान् नाम गिनाकर, रोब-दाव से काम लेकर, उनकी तारीफ में बेमतलब की

शब्दावली का प्रयोग सहाय साहब ने अपने लेख में किया है। हिन्दी को संस्कृत अब नवीन स्फूर्ति दे ही नहीं सकती। अरबी और फारसी आज भी उर्दू को नवीन स्फूर्ति दे सकती है। हिन्दी का स्रोत सूख गया है। उर्दू का स्रोत नयी जिन्दगी और नयी रोशनी से जगमगा रहा है। सहाय साहब ने यहाँ पर हिन्दी के ऊपर आरोप लगाकर बहुत छिपकर यह कहना चाहा है कि हिन्दी में जो संस्कृत शब्दावली का प्रयोग हो रहा है, वह बिल्कुल बुरा है। उनकी यह अवाज चाहे जिस स्तर से उठी हो, हिन्दीवालों को उसे पहचानने में कोई दिक्कत नहीं होगी।

फिराक साहब का विचित्र हाल है। हिन्दी के साहित्यकारों को वह इतना बुद्धिहीन समझते हैं कि वह मामूली-से-मामूली रचना को भी उच्चकोटि की रचना समझने लगते हैं। यह कहाँ तक सही है, इसकी परख स्वयं पाठक कर लें। हिन्दीवाले तो इतने चुप रहते हैं कि उनकी आवाज तक नहीं सुनायी देती। दूर क्यों जायँ, स्वयं फिराक साहब को ही ले लें। बातें बनाने और बघारने का यदि कम्पटीशन किया जाय , तो यह सहज ही कहा जा सकता है कि फिराक साहब बाजी मार ले जायेंगे। हिन्दी वाले तो चुपचाप अपना काम करना जानते हैं, भड़भड़ाना नहीं। बड़प्पन का दम भरते हुए भी स्कूल, कॉलेज के विद्यार्थियों वाली व्यंग्य-प्रणाली का जिस तरह से सहाय साहब ने सहारा लिया है, वह देखते ही बनता है। सहाय सहाब चाहे जितना बड़ा बनें, लेकिन उनकी शैली स्वयं पुकार-पुकार कर कह रही है कि मैं निर्बल हूँ, केवल नुमायशी और दिखावे की चीज हूँ, क्योंकि मेरा कोई आधार नहीं, विश्वास नहीं है।

(अभ्युदय, प्रयाग 22 जून, 1942 से उद्धृत)

फिराक साहब का पत्र[1]

'तरुण' में प्रकाशित अपने लेख तथा 'अभ्युदय' में प्रकाशित उस लेख की पृष्ठभूमि के विवरण के सम्बन्ध में फिराक साहब का एक संक्षिप्त-सा, पर सुन्दर पत्र हमें प्राप्त हुआ। आप लिखते हैं—'15 जून का अभ्युदय आपका भेजा हुआ मिला। मेरे 'तरुण' में प्रकाशित लेख का 'जवाब' लिखनेवाले ने 'अच्छा' लिखा है।'

फिराक साहब का यह पत्र बहुत ही माकूल है। 'तरुण' में प्रकाशित उनका लेख लाजवाब था—मतलब यह कि अपना जवाब यह आप था। अधिक सही शब्दों में यह कि उसमें ऐसी कोई बात नहीं थी, जिसे जवाब देने योग्य समझा जाय। इस तरह के लेखों के सामने आने पर या तो उन्हें नजरन्दाज कर दिया जाता है या फिर उनकी निरर्थकता को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया जाता है। फिराक साहब जैसे जिम्मेदार पद को सुशोभित करने-वाले व्यक्ति के स्थान पर यदि किसी और ने इस तरह की बातें की

---

1. इस टिप्पणी के साथ यह लेख छपा था।

होती, तो कोई ध्यान भी न देता। आशा है कि फिराक साहब व्यर्थ ही अपने को हिन्दी का पारखी सिद्ध करने के व्यर्थ प्रयत्नों में न उलझाकर उर्दू के क्षेत्र में ही अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे।

नरोत्तम प्रसाद नागर

(अभ्युदय, प्रयाग, 22 जून, 1942 का अंक)''

❐

लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धता

कुछ लोगों का कहना है कि लेखक के लिए सामाजिक प्रतिबद्धता कतई जरूरी नहीं है, क्योंकि लेखक जो कुछ लिखता है, वह ईश्वर से मिली अपनी प्रतिभा को भी लिखता है। लेखक विशिष्ट व्यक्ति होता है और वह अपनी इसी विशिष्टता को विकसित करता है और उसे ही अपने कृतित्व में निरूपित करता है। इस तरह से यह साफ जाहिर हो जाता है कि लिखने के लिए किसी भी समाज से प्रतिबद्ध होने की जरूरत नहीं है।

कुछ दूसरे लोगों का कहना है कि लेखक को लिखने के लिए समाजमुखी होना चाहिए। यही नहीं, उसे समाज से प्रतिबद्ध होना चाहिए। वह बिना समाज से प्रतिबद्ध हुए ऐसा कोई साहित्य-सृजन नहीं कर सकता, जो दूसरे के लिए महत्त्व व मूल्य रखता हो।

देखना यह है कि इन दो दृष्टिकोणों में से कौन-सा दृष्टिकोण सही है। मौलिक प्रतिभा कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जो बना-बनाया कहीं से मिलता है, और जिसे लेकर आदमी पैदा होता है। आदमी का दिमाग एक यंत्र की तरह है, जो उसके पूरे शरीर से जुड़ा होता है। आदमी की इन्द्रियाँ उसे समाज और प्रकृति से और पूरे परिवेश से अवगत कराती रहती हैं। इसीके फलस्वरूप उसका दिमाग भी अपना प्राकृत स्वरूप बदलते-बदलते सामाजिकता प्राप्त करने लगता है और फिर अपने मूल रूप से नितान्त बदलकर एक विशिष्ट : सामाजिक रूप ग्रहण कर लेता है। यह बात दूसरी है कि कोई लेखक अधिक आत्मनिष्ठ हो जाता है, तो कोई अधिक वस्तुनिष्ठ।

लेखन को आत्मनिष्ठ कर्म माननेवाले शायद ऐसा समझते हैं कि लेखन कोई बीज है, जिसे वह जमीन में बो देते हैं, तो वह अपनी प्राकृत वृद्धि को पाकर अपने मौलिक प्राकृतिक रूप को ही प्राप्त करके पेड़ बन जाता है। तर्क यह दिया जाता है कि बीज में पेड़ निहित है। इसलिए लेखन-कर्म भी ऐसा हो जाता है। लेकिन ऐसा कहनेवाले यह भूल जाते हैं कि लेखन-कर्म एक चेतन कर्म है, जो प्राकृत कर्म से नितान्त भिन्न है। बीज तो जमीन से अपनी खाद और खुराक लेकर अपना मूलरूप ही धारण करने के लिए विवश बना है; लेकिन लेखन इसके विपरीत, आदमी (लेखक) के अपने अर्जित किये हुए व्यक्तित्व की सृजन-क्षमताओं में रचा जाता है और रूप पाता है और फिर पढ़ा जाकर दूसरों की मानसिकता में प्रवेश कर उसे प्रभावित करता है तथा लेखक को दूसरों से जोड़ता है। इस तरह एक की सामाजिक प्रतिबद्धता दूसरे की सामाजिक प्रतिबद्धता बन जाती है। लेखन सामाजिक मानवीय मूल्यों की सांस्कृतिक धरोहर बन

जाता है और देश और काल को उसी के अनुरूप मानवीय बनाने में सहायक होता है। जो कृतित्व इस मानवीयकरण की प्रक्रिया से सम्पुष्ट नहीं होता, वह कृतित्व केवल वैयक्तिक होकर वहीं-का-वहीं अविकसित पड़ा रहा जाता है। इसलिए मैं समझता हूँ कि लेखन के लिए सामाजिक प्रतिबद्धता जरूरी है।

हमारा समाज भिन्न रंग-रूप और भिन्न स्थितियों व परिस्थितियोंवाला है। इसमें समानताएँ और असमानताएँ बहुत हैं। वर्ग-भेद है। नीची-ऊँची श्रेणियाँ हैं। विरोधी आदर्श और यथार्थ हैं। पक्ष और विपक्ष के तनाव और तर्क हैं।

ऐसी दशा में बेचारे लेखक की स्थिति बड़ी संकटपूर्ण हो जाती है कि वह अपने समाज से कैसे और कहाँ पर प्रतिबद्ध हो और किस हद तक प्रतिबद्धता को लेकर चले कि उसका लेखन सार्थक मानवीय महत्ता व मूल्य प्राप्त कर सके।

यहीं पहुँचकर लेखक को कई-कई मोर्चे पर मुकाबला करना होता है।

मैंने देखा है कि इस मुकाबले में वही लेखक होड़ लेते हैं, जो सामाजिक प्रतिबद्धता से लैस रहने के लिए वैज्ञानिक जीवन-दर्शन अपना चुके होते है। उन्हें यही जीवन-दर्शन सही दिशा और दृष्टि देता रहता है और उनके लेखन को महान् मानवीय ऊर्जा से सक्रिय रखता है। तभी वह अपने समाज के वर्तमान स्वरूप को बदलने के लिए कटिबद्ध होता है और संघर्षमय जीवन में जीवन्त इकाई की तरह प्रकाश फैलाता रहता है। इसी के विपरीत जो लेखक ऐसे जीवन-दर्शन से ऊर्जा ग्रहण नहीं करते हैं, वह अहं की आत्मनिष्ठ इकाई बनकर अपनी निजता को रचते रहते हैं और समाज से कटे-कटे विसंगतियों से टकराते और टूटते रहते हैं। उनकी मौलिकता उन्हें अजूबा बना देती है।

अतएव मैं यही सही समझता हूँ कि लेखक के लिए सामाजिक प्रतिबद्धता बहुत जरूरी है, ताकि वह अपनी विशिष्ट इकाई से दूसरों की इकाई को प्रभावित कर सके और उन्हें मंगलमय भविष्य के निर्माण के लिए बल व वेग दे सके।

❐

गीत-काव्य जन-मानस के आईने में

कविता को साहित्य का माध्यम नहीं कहा जा सकता। वह स्वयं साहित्य है। जैसे साहित्य को साध्य कहा जाता है, वैसे ही कविता को भी साध्य कहा जाता है। साहित्य की सृष्टि में कविता की सृष्टि समाहित रहती है। इसलिए मैं कविता को साहित्य का माध्यम नहीं मानता। इसलिए मैं कविता को साहित्य का सशक्त माध्यम भी नहीं मानता।

साहित्य के अन्तर्गत कविता आती है। इसलिए साहित्य की ऐतिहासिकता के अन्तर्गत ही कविता की ऐतिहासिकता रहती है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि साहित्य का कोई दूसरा इतिहास है और कविता का दूसरा।

इसलिए कविता को साहित्य के समग्र इतिहास के साथ ही देखना, परखना और समझना चाहिए। इसलिए जिस लोकप्रियता की बात कविता को लेकर उठायी गयी है, वह कविता तक ही सीमित नहीं रक्खी जा सकती—उसकी लोकप्रियता को समग्र साहित्य की लोकप्रियता के सन्दर्भ में ही उठाया जा सकता है। दोनों की लोकप्रियता का एक-दूसरे से अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

लोकप्रियता का वह तथाकथित गुण साहित्य तभी प्राप्त करता है, जब वह लोक की वस्तुवत्ता को विम्बित करता है और ऐसे बिम्बित करता है और इस शब्दों और अर्थों में बिम्बित करता है कि वह बिम्बन लोक-मानस को ग्रहणीय हो और ग्रहणीय वह तभी होता है, जब वह सम्प्रेषणीय होता है। इसलिए लोकप्रियता का सम्बल मूलत: सम्प्रेषणीयता से जुड़ा हुआ सवाल है। इसलिए सम्प्रेषणीयता का अतिक्रमण करके लोकप्रियता नहीं पायी जा सकती। तो सम्प्रेषणीयता को ध्यान में रखना होगा और सबसे पहले यह देखना होगा कि कविता की जो सम्प्रेषणीयता पहले थी, वह है या नहीं? और अगर है, तो कैसी कविताओं में कहाँ है? और वह पारस्परिक निर्वाह में है या परम्परा को तोड़कर नये कथ्य और शिल्प में है? और अगर नहीं है, तो किस कविता में नहीं है और क्यों नहीं है? इन बातों पर विचार कर लेने पर ही लोकप्रियता वाले गुण की अवगतता होने लगेगी और फिर सविवेक उसपर विचार किया जा सकता है।

यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो लोकप्रियता को सही ढंग से समझा भी नहीं जा सकता और न ही यह कहा जा सकता है कि आज कविता अपनी लोकप्रियता खोती जा रही है।

यह स्थापना कि आज कविता अपनी लोकप्रियता खोती जा रही है, वस्तुत: यह स्वीकरण प्रस्तुत करती है कि पहले कविता लोकप्रिय हुआ करती थी और उसने अब अपने इस गुण को खो दिया है। विचार करना होगा कि क्या ऐसी बात है?—क्या यह सत्य है?

हिन्दी-साहित्य का इतिहास उपर्युक्त बात की पुष्टि नहीं करता। कविता पहले समय में, केवल राज्याश्रित रही है और राज-दरबारों में ही जीती रही है। वह पहले का समय चाहे संस्कृत-साहित्य का युग रहा हो, चाहे ब्रजभाषा-काव्य का युग रहा हो, तब कविता केवल काव्य-सिद्धान्तकारों एवं पण्डितों की चहेती रही है। वैसे भक्ति-काव्य के दौरान अवश्य ही वह सामान्यजन तक आयी। कबीर भी उसे अपनी वाणी से आमआदमी तक ले आये। लेकिन साक्षर जनता के अभाव में कविता कभी भी उस अर्थ में जनता की कविता नहीं हुई, जिस अर्थ में उसे लोक-कविता कहा जाय। इसलिए लोकप्रियता का गुण कविता को कभी प्राप्त नहीं हुआ कि उसे लोक-मानस की कविता कहा जा सके।

तुलसी बाबा की रामायण ही एक ऐसा महाकाव्य है, जो लोक-मानस का महाकाव्य हो सका। किन्तु इसी महाकाव्य के बलबूते पर समग्र हिन्दी-कविता को लोकप्रियता के गुण से विभूषित नहीं किया जा सकता। रामायण के बाद भी और आज तक जो कविता लिखी गयी और लिखी जाती है, वह कविता रामायणवाली लोकप्रियता के गुण की नहीं कही जा सकती। इसलिए यह कहना न्याय-संगत नहीं है कि कविता पहले, हमेशा लोकप्रिय रही है और अब वह सन् 1978 में पहुँचते-पहुँचते अपनी लोकप्रियता खो चुकी है। कविता तो कुछेक तक ही पहुँचती रही है और कुछेक ही उसका रसास्वाद लेते रहे हैं। वह विद्यालयों में न पढ़ायी जाती, तो सम्भवत: नयी पीढ़ी उससे अपरिचित ही रह जाती।

एक समय यह भी जरूर रहा है पहले, जब हम लोगों के छुटपन में, सूरदास और मीराँ के पद घरों में, सबेरे-सबेरे आदमी गा लिया करते थे। लेकिन वह समय भी कब का बीत चुका और अब तो कविता जैसे शोधार्थियों के लिए बची ही है।

कविता के ऐसे संकुचित होते चले जाने का दायित्व देश की ऐतिहासिक परिस्थितियों को दिया जा सकता है। हमारे जीवन का समूचा ढाँचा ही जीर्ण-शीर्ण होकर डगमगा रहा है और अब तो आदमी-आदमी से पृथक् होता चला जा रहा है। कोई किसी से बँधा नहीं रह गया। पुरानी जीवन-पद्धति बेकार हो गयी है। उससे जुड़े मानव-मूल्य झूठे पड़ गये हैं। नैतिकता की नींव उखड़ चुकी है। नये मानव-मूल्यों की खोज चल रही है। द्वन्द्व और संघर्ष से जूझता आदमी अपनी मानसिकता बदल रहा है। इस सबकी वजह से उसका साहित्य और काव्य भी—बदल रहा है। आदमी को अब वह प्रिय नहीं लगता, जो उसे पहले प्रिय लगता था। व्यक्ति अब अपनी निजी अस्मिता पाने की फिकर में पहले की सामाजिकता को त्याग रहा है और नये क्षितिज-छोरों की ओर लपक रहा है।

ऐसे में स्वाभाविक है कि कविता अपनी वह पहलेवाली अल्पांशी लोकप्रियता भी छोड़ दे। उसने उस लोकप्रियता से मुँह मोड़ लिया। वह व्यक्ति-प्रिय होकर समाज-प्रिय न रह गयी। यह क्रम चलता रहेगा और टूटने का भी नहीं है, चाहे कोई कितना ही हल्ला क्यों न मचाये और आज की कविता के खिलाफ जेहाद क्यों न छेड़े? भला यह कैसे हो सकता है कि युग बदले, देश की वस्तुवत्ता बदले और आदमी वैसे ही उसी पिछड़ी वस्तुवत्ता के समाज को समर्पित होता रहे और अपनी अस्मिता के नये-नये आयाम न प्राप्त करे और अपनी पहलेवाली तथाकथित लोकप्रियता वाली कविता से ही चिपका रहे और उसको नया जामा न दे—उसका नवीनीकरण न करे। इसलिए कविता की लोकप्रियता के क्षय होने से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उसका यह क्षय इसलिए हुआ, क्योंकि वह कविता नहीं रही याकि वह बौद्धिक हो गयी अथवा व्यक्तिवादी हो गयी। उसके स्थान पर गीतों को, नव गीतों को स्थापित किये जाने का आन्दोलन प्रारम्भ करना और इस बलबूते पर कि वही कविता का स्थान ले लें और लोकप्रिय हो जायें और वही कविता हो जायें सर्वथा गलत होगा। फिर तब तो यह कार्य और भी दुष्कर कार्य होगा, जब यह स्थापना प्रस्तुत की जाती है कि गीत में 'भाषातीत गूँज' होती है और इस गूँज से ही गीत की शुरुआत होती है और इस गूँज को भाषा के सम्पर्क से कम-से-कम विकृत किया जाय। यह रहस्योन्मुखता होगी-गोपनीयता होगी-अनहद नाद होगा।

गीत भी कविता के अन्तर्गत ही स्थान पाता है। वह भी इतिहास से उतना ही बिंधा होता है, जितना आदमी और आदमी का काव्य। इसलिए यह सोचना ही गलत है कि ऐसे गीतों के सृजन से कविता को उसकी खोयी हुई लोकप्रियता फिर से प्राप्त करायी जा सकती है। बेचारे नाजुक गूँज के नाजुकमिजाज गीत जब भाषा से कटकर बिना भाषा के स्वर में कुहकेंगे, तो हो सकता है कि श्रोता को उन्हें सुनकर पक्षियों के कलरव की अनुभूति हो। पर वे गीत आदमी के गीत नहीं होंगे। वे आदमी की चेतना के गीत नहीं होंगे। वे केवल कुहुक, कलरव, झंकार मात्र होंगे। तब वे गीत साहित्य के न होकर असाहित्यिक गुञ्जन मात्र के स्वरारोह और अवरोह की ध्वनि-लिपियाँ होंगे।

गीतात्मकता कविता को कविता नहीं बनाती। गीतात्मकता कविता को गेय बनाती है और गेय होकर वह एक कण्ठ से निकलकर दूसरों के कानों में प्रवेश करती है। लेकिन वह कार्य और भी तरीके से कवि लोग सम्पन्न कर लिया करते हैं। इसलिए गीतात्मकता के परित्याग से, कविता की लोकप्रियता को सम्बद्ध करके यह नहीं कहा जा सकता कि गीतात्मकता के अभाव से ही कविता अपनी लोकप्रियता खो रही है। यदि गीतात्मकता ही लोकप्रियता का मूल कारण होती, तो संगीत ही काव्य का कब का स्थानापन्न बन गया होता, ऐसा नहीं हुआ। इसका उल्टा ही हुआ। पक्के गाने पूर्णरूपेण गीतात्मक होते हैं, लेकिन वे आम आदमी को अच्छे नहीं लगते। गीतात्मकता प्रभावी नहीं होती। फिर यह कैसे कहा जाय कि गीतात्मकता के अभाव में ही कविता कविता नहीं रह गयी—और उसने अपनी लोकप्रियता खो दी। सिनेमा के गीतों की लोकप्रियता

के कारण पर विचार करने से पता चलता है कि वे इसलिए लोकप्रिय नहीं हैं क्योंकि वे अच्छी-गीतात्मकता के उदाहरण हैं; वरन् वे इसलिए लोकप्रिय नहीं हैं क्योंकि वे उसी लोक-मानसिकता को व्यक्त करते हैं, जो आज बन रही है या बनती जा रही है। इस मानसिकता को साहित्यिक मानसिकता के समकक्ष नहीं रक्खा जा सकता। इसलिए गीतात्मकता के अभाव को कविता की लोकप्रियता के क्षय का कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता। मुख्य बात तो यह है कि लोकप्रिय कविता के उन गुणों पर विचार करना चाहिए, जिनसे वह लोकप्रिय होती है। वे गुण वस्तुवत्ता से ही प्राप्त होते हैं। वस्तुवत्ता तक पहुँचकर उसके रूप-प्रकार को पकड़ना और उसे आत्मवत्ता देकर फिर से नयी कृति के रूप में, भाषायी इकाई बनाकर व्यक्त करने में ही कविता का नारा खेल होता है। इस खेल को नया खिलाड़ी नहीं खेल सकता और अगर खेलता है और अपनी निजता से निरूपित करके ही खेलता है, तो वह गलत ही खेलता है। मैं मानता हूँ कि गेय कविता भी प्रभावशाली होती है, जैसे जयदेव का गीतगोविन्द। वह प्रिय लगता है। फिर भी वह समग्र कविता के पूरे धरातल पर छाया हुआ नहीं है। गीत कभी भी समग्र कविता का स्थान नहीं ले सकते और न ही वे वह सब कुछ व्यक्त कर सकते हैं, जो गीत से इतर वाली कविता में व्यक्त होता है।

इसलिए गीत की वकालत, गीतात्मकता के समर्थन में, चाहे जितनी अच्छी हो, कविता को हरा नहीं सकती। गीत कविता को कभी निगल नहीं सकता। गीत का मुँह छोटा-पेट छोटा है। उसकी पाचन-शक्ति भी प्रबल नहीं है। कविता ही गीत को अपने क्षेत्र में एक सुरक्षित स्थान दे सकती है और उसे वहाँ जाने दे सकती है। वह उदार रही है, उदार है, और आगे भी हमेशा उदार रहेगी। गीत कविता से बल-वैभव लेकर ही टिक सकता है। क्योंकि कविता के खजाने में इतना-कुछ है कि उसमें कमी नहीं आती; चाहे जितना भी, जो कुछ भी निकाल-निकाल कर ले लिया जाय।

जब कविता ही अपना पारम्परिक रूप त्यागने पर मजबूर हो गयी है और एकदम नया रूप लेकर प्रकट हो गयी है कि अब वह साधारण आदमी की पहचान में भी नहीं आती, तो बेचारा गीत इस रूप-परिवर्तन की पूरी प्रक्रिया से कैसे बच सकता है और पूर्ववर्त्ती पारम्परिक गेय 'पदों' की प्रणाली पर कैसे चल सकता है? कविता के साथ-साथ गीत भी बदला है और बदलेगा। इसलिए आज के गीत का कोई स्थायी रूप-प्रकार नहीं निर्धारित किया जा सकता। यह तो गीतकार पर निर्भर है कि वह आज किस-किस रूप-प्रकार को अपना-अपनाकर अपने गीतो को प्रस्तुत करे। गीत अब भी तुकान्त हो सकते हैं—अतुकान्त हो सकते हैं—नपी-तुली पंक्तियों में हो सकते हैं, बे-नाप की पंक्तियों में हो सकते हैं—टेकदार हो सकते हैं और बेटेक हो सकते हैं। देखना यही होता है कि कैसे-क्या किया जाय कि गीत कविता हो सके। वह केवल स्वरों का आरोह-अवरोह न रहे। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश ही तो कविता को बदल रहे हैं—गीतों को नया जामा दे रहे हैं। इस परिवेश को नकारा नहीं जा सकता—न इससे अलग रहा जा सकता है—न इसकी उपेक्षा की जा सकती है। परिवेश से प्रभावित होना

पड़ता है समग्र साहित्य को, क्योंकि आदमी की चेतना परिवेश से प्रभावित हो रही है और बदलती हुई नया रूप ले रही है। ऐसे में भाषा भी बदलेगी, शिल्प भी बदलेगा। बदली भाषा और बदले शिल्प में ही परिवर्त्तन व्यक्त होगा, वरना वह युगीन न हो सकेगा और युगीन लोगों को ग्रहणीय भी न होगा।

'नव गीत' और 'नव कविता' की सम्प्रेषणीयता एक स्वभाव की है, यह अलग-अलग दो सम्प्रेषणीयताएँ नहीं है। सम्प्रेषणीयता चाहे 'नव गीत' की हो चाहे 'नव कविता' की हो, वही सम्प्रेषणीयता रहेगी। इसलिए दोनों की सम्प्रेषणीयता को दो तरह की सम्प्रेषणीयता में विभाजित करके एक की सम्प्रेषणीयता को दूसरे की सम्प्रेषणीयता से बढ़ाकर या कम करके नहीं आँका जा सकता। 'नव कविता', जो केवल नयी है और मानवीय चेतना के समग्र प्रवाह से अलग है, वही 'नव कविता' सम्प्रेषण शक्ति खोती है और उसी के समान होकर 'नवगीत' भी अपनी सम्प्रेषण शक्ति खोता है। चाहे 'नव कविता' हो, चाहे 'नवगीत' हो— दोनों कविता हों और केवल रचयिता की आत्माभिव्यक्ति न हों, वरन् वस्तुवत्ता की आत्मवत्तीय अभिव्यक्ति हों, यही आवश्यक है। यही मूल बात है। इसे ध्यान में रखकर ही लिखी गयी रचना कविता होगी—गीत होगी और सम्प्रेषणीय होगी।

कवि-सम्मेलन काव्य के प्रचार में सहायक होते हैं। वहाँ पहुँचे कवियों को श्रोताओं की रुचि का पता चलता है। दोनों के बीच संवाद की स्थिति पैदा होती है। सम्मेलन में एकत्रित भीड़ निश्चय ही उस मानसिकता की नहीं होती, जिस मानसिकता के कवि होते हैं। वैसे वहाँ भी ऐसे कवि होते हैं, जो भीड़ की जैसी मानसिकता के होते हैं। इसलिए विशिष्ट मानसिकता के कवियों की रचनाएँ भीड़ की मानसिकता के लिए ग्राह्य नहीं हो पातीं और तभी ऐसी विशिष्ट मानसिकता के कवि वहाँ असफल हो जाते हैं। इस असफलता से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वैसी मानसिकता के कवि की रचना खराब है। खराबी तो वहाँ है, जहाँ भीड़ है, जिसकी मानसिकता अभी तक ऊपर नहीं उठ सकी और वह सिर्फ सिनेमाई फिल्मी गीतों तक ही पहुँच पायी है या कि चमत्कारप्रियता पर ही रीझती-सीझती है।

कवि-सम्मेलनी वाह-वाही और लोकप्रियता के कारण वही कवि नीचे गिरे हैं, जो कविता को नहीं, वाह-वाही को—लोकप्रियता को लूटने को ही कवि-कर्म समझते रहे हैं। अच्छे समझदार कवियों पर इससब का बहुत कम असर पड़ता है और अगर पड़ता भी है, तो क्षणभर के लिए, न कि हमेशा-हमेशा के लिए।

❐

नये लेखकों का दृष्टि-भ्रम और उसका निराकरण

नये लेखकों में ही नहीं, पुराने लेखकों में भी किसी-न-किसी तरह का दृष्टि-भ्रम विद्यमान रहता है। इस भ्रम के शिकार लगभग सभी लेखक हुआ करते हैं। ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के पहले भी कई भौतिकवादी दार्शनिक हुए हैं और वे भी दृष्टि-भ्रम से भ्रमित पाये गये हैं। भौतिकवादी जीवन-दर्शन से पहले तो भाववादी विचारक जीवन को परिकल्पनात्मक चिन्तन से आँकते और परखते रहे हैं। रूसी अक्तूबर क्रान्ति से लेकर अबतक भी देश-विदेश में वैसा ही दृष्टि-भ्रम देखने को मिलता है। गोकि वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियाँ प्राप्त की जा चुकी हैं और परिकल्पना का पहले जैसा प्रभाव नहीं रह गया है। सामन्तवाद की चिन्तन-पद्धति के अवशेष अब भी जन-जीवन में व्याप्त हैं। साम्राज्यवाद के नकली मानववाद के संस्थापकों की विजय-दुन्दुभी बजना बन्द नहीं हुई और विश्व के रंगमंच पर देश-विदेश के आदमियों को चेतना हर प्रकार के अवैज्ञानिक असत्यों से घिरी हुई अपना सही मार्ग खोजने में संलग्न है। इसलिए बेचारा नया लेखक इस संसारव्यापी भ्रम के वातावरण में भ्रमित रहता है, तो उसे दोषी नहीं करार दिया जा सकता, खासतौर से इसलिए भी, क्योंकि अधिकांश नये और पुराने लेखकों में सही वैज्ञानिक जीवन-दर्शन की दिशा और दृष्टि का अभाव है। ये जीवन से जुड़े जरूर हैं, लेकिन ये यह नहीं जानते कि आज के संसार का जीवन इतना अमानवीय क्यों हो गया है, उसमें विसंगतियाँ-ही-विसंगतियाँ देखने को मिलती हैं और आदमी को अपना उद्धार नजर नहीं आता। ऐसी दशा में प्रत्येक लेखक के लिए आवश्यक है कि वह ऐसे जीवन-दर्शन को आत्मसात् करे, जो वैज्ञानिक हो, मानवीय इतिहास को उसकी प्रगतिशील निरन्तरता में आँकता हो। ऐसा करने से ही उसको संसार की युगीन समस्याओं के मूल में छिपे कारणों का पता लगेगा और तभी वह उन समस्याओं के समाधानों की वैज्ञानिक पड़ताल करेगा और तब अपना लेखकीय दायित्व निर्धारित करेगा।

आज के लगभग सभी लेखक ऐसा नहीं करते। फलस्वरूप वह स्वयं भी सामाजिक, राजनैतिक और मानवीय तथ्यों को नहीं पकड़ पाते और जो लिखते हैं, वह भी गलत दृष्टिकोण से उपजी गलत छवि होती है। संसार में ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन के विरुद्ध एक षड़यंत्र घनघोर रूप से कायम हो चुका है और वह अपने देश के युवकों को भी भुलावे में भटका चुका है। बड़े-बड़े सिद्धि प्राप्त—विद्या-विशारद, मध्यवर्गीय बौद्धिक इसी में अपनी शान समझते हैं कि वे व्यक्तित्व-स्वातंत्र्य के पक्षधर हैं और उन्हें अपनी निजता को ही अभिव्यक्त करना चाहिए, न कि मानवीय

समुदाय के जीवन से जुड़कर उनकी मानसिकता विकसित करें, ताकि वे भी सही दृष्टि से सही तथ्य को पकड़ सकें तथा आदमी होने का दायित्व समाज और देश के प्रति निबाह सकें।

होता यह है कि कुछ ही लेखक अपनी मानसिकता, सही वैज्ञानिक जीवन-दर्शन से, बना पाते हैं और यथासाध्य सही तथ्य का लेखन करते रहते हैं। उनका लिखा सब तक नहीं पहुँच पाता। उनके लिखे को देश की धन्नासेठी पत्रिकाएँ नहीं छापतीं। इसलिए देश के युवा लेखकों को उनके लेखन से प्रेरणा नहीं मिल पाती। ये तथाकथित महिमामण्डित अवैज्ञानिक और परिकल्पनात्मक चिन्तन के प्रचारित और प्रसारित माहौल में खोये रहते हैं।

इसलिए नये लेखकों को अपना दृष्टि-भ्रम दूर करने के लिए वैज्ञानिक जीवन-दर्शन को अपनाना चाहिए और उसी की दूरबीन से सत् और असत्, मानवीय और अमानवीय, मौलिक और अमौलिक तथ्यों और तत्त्वों को पकड़ना चाहिए और अपनी अहंवादी निजता से निकलकर उसे महान् मानवीय गुणों की अवतारणा के लिए लोक-चेतना में समाहित कर देना चाहिए, ताकि लोक-चेतना का प्रवाह भ्रमों को तोड़ता हुआ उत्तरोत्तर विश्व-मानव तक पहुँच सके, जिससे संसार की सभी अवैज्ञानिक छुद्र सीमाएँ टूटें और आदमी को आदमी होने का गर्व प्राप्त हो सके।

नये लेखक के सामने अक्सर अनुभूतिपरकता और क्षणवाद की मौलिकता बड़े जोर-शोर से प्रस्तुत की जाती है। उसे अपने को देखने और अपनी निजता को व्यक्त करने की सलाह दी जाती है। इसी सिलसिले में कथ्य और शिल्प के सम्बन्ध में कई गलत दृष्टिकोण रखे जाते हैं और यहाँ तक कहा जाता है कि कथ्य वही कथ्य है, जो दिमाग से निकलता है और जिसकी सामाजिक स्थापना के लिए लेखक लालायित रहता है। ऐसा कथ्य वस्तुपरकता से आबद्ध नहीं होता और न ही वहाँ से निकलता है। इसलिए शिल्प पर सविशेष आग्रह केन्द्रित किया जाता है, जो लेखक को निजी आत्मपरकता का एक अजनबी खिलौना बना लेता है।

ऐसी ही धारणावाले लोग भाषा को भी महत्त्व नहीं देते और उससे परे पहुँचकर आदिम मानवीयता को लिखने की सलाह देते हैं। यहसब विश्वव्यापी साहित्यिक षड्यंत्र का कुचक्र है, जो देश में चल रहा है। इससे मुक्ति पाने के लिए युवा लेखकों को सतर्क रहना चाहिए और अपने लेखन-कर्म में पूर्णतया वैज्ञानिक जीवन-दर्शन से आबद्ध होकर आदमी को विकसित और प्रगतिशील बनाये रखने के लिए महान् मानवीय गुणों का लेखन करना चाहिए। न उसे आदमी से टूटना चाहिए न समाज से। न उसे देश से टूटना चाहिए, न विदेश से। न उसे भाषा से पराङ्मुख होना चाहिए। आदमी अकेले में नहीं जी सकता, न विकास कर सकता है। आदमी यथास्थिति में रहते हुए, शोषण में मरते-खपते, घनघोर परिश्रम करते-करते भी दीन-हीन बना रहता है और जबतक जीता है, तबतक मरा-मरा-सा जीता है। यथास्थितिवाली व्यवस्था चन्द लोगों

के हित में फल-फूल रही है। लोकतन्त्र का नाम लेकर उसे बरकरार रखने के लिए आये दिन नये-नये कानूनों से उसे सुरक्षा प्रदान की जाती है और आदमी को इतना निरीह बना दिया जाता है कि वह पेट का पूजा होकर रह जाता है और अपने मानवीय विकास की सारी क्षमता खो देता है। देश का संविधान भी वर्तमान यथास्थिति के ऊपरी ढाँचे को ज्यों-का-त्यों बनाये रखने की नेक नजर देता है। न्यायालय भी संविधान के अन्तर्गत वही काम करते हैं, जो यथास्थिति के लोकतन्त्र को क्षति न पहुँचने दे। शिक्षा भी, ऐसे ही लोकतन्त्र की परिचर्या में पड़ी ऊपर से परिपुष्ट, भीतर से खोखली हुई, स्वयं अनास्था पर टिकी रहती है, देश के नौनिहालों को विद्या-बुद्धि से वञ्चित रखती है। ऊपर से लेकर नीचे तक देश की वर्तमान तथाकथित लोकतान्त्रिक व्यवस्था सड़ चुकी है। यह, छोटे-मोटे क्षणिक समाधान करके, कहीं कुछ 'ऊपरी दिखौवा' परिवर्तन करके, जनता को कर्जे की थोड़ी-बहुत सहूलियत देकर और ऐसे ही अन्य कामों से, आदमी के लिए, किसी भी प्रकार से उपयोगी नहीं बनायी जा सकती। क्रान्ति की सम्भावनाएँ नहीं के बराबर हैं। तब फिर जो कुछ किया जा सकता है, वह यही किया जा सकता है कि देश की जनता को सही वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि से लैस किया जाय और उसे वैज्ञानिक समझ देकर यह समझने की शक्ति दी जाय कि वह इस हो रही यथास्थितिवाली व्यवस्था से जल्दी-से-जल्दी अपना नाता तोड़े और देश की राजनीति को वैज्ञानिक बनाये।

नये लेखक को भी यही करना है। वह अपने निजी दृष्टि-भ्रम को इसी तरह दूर कर सकता है और एक अच्छा कर्त्तव्यपरायण आदमी होकर, सबके साथ घुलमिल कर, देश का वैज्ञानिक जीवन जी सकता है। दृष्टि-भ्रम का मूल कारण अवैज्ञानिक जीवन-दर्शन है। जो लोग इसके विपरीत कहते हैं, वह लोग कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी प्रकार से घटिया, अवैज्ञानिक चिन्तन पद्धति से, भले ही वह धार्मिक हो, भले ही वह परिकल्पनात्मक हो, जुड़े होते हैं।

आदमी आदमी को आदमी नहीं समझता। पत्थर के देवता के सामने गिड़गिड़ाता है। पत्थर गूँगा होता है, अकर्मण्य होता है, इसीलिए आदमी उसके विरुद्ध नहीं होता। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि आदमी अपना उद्धार अपने हाथों से न करे और न ही दूसरे आदमियों से अपना कल्याण करा सके। यह स्थिति अत्यन्त घृणास्पद स्थिति है। इसीलिए आदमी को आदमी होने के लिए, आदमी की तरह जीने के लिए, अपना और दूसरों का दायित्व निबाहने के लिए, अपनी और सबकी उन्नति के लिए, अहंभोगी होकर नहीं, संसारभोगी होकर जीना और जागना पड़ेगा।*

❐

---

* चित्रकूट के लेखक-शिविर में पढ़ा गया पर्चा।

समान्तर फिल्म : दृष्टि और दिशा

इधर कुछ अर्से से समान्तर कहानियों और समान्तर फिल्मों की काफी चर्चा हुई है। पक्ष और विपक्ष में अच्छे खासे लोगों में संवाद हुआ है। कहानीकारों और फिल्म वालों ने इस विषय में अपने-अपने खिलाफ-माफिक विचार व्यक्त किये हैं। जनता में भी, खासकर सिनेमा देखनेवालों में भी इनको लेकर तर्क-वितर्क हुए हैं। फिल्म बनाने वाले पुराने जाने-माने लोगों के भी कान खड़े हुए हैं। मतलब यह कि 'समान्तर' विवाद का विषय बन गया है। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी इसने छोटी-बड़ी लहरें उठायी हैं।

मानना तो पड़ेगा ही कि, चाहे समान्तर कहानी हो, चाहे फिल्म—दोनों ही जन्म लेकर अस्तित्व में आ गये हैं और चल निकले हैं। यह बात अवश्य है कि अभी दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में सुख-सुविधा से स्थापित नहीं हुए हैं। मतलब यह कि अभी तक देश और काल पूरी तरह से उनके माफिक नहीं हुआ।

विपक्ष में कहा जाता है कि समान्तर फिल्म आम जनता के दिमाग और जीवन से कटे हुए हैं। वह उसको नहीं छूते। उनमें बौद्धिकता रहती है। वह भावनात्मक स्तर पर संवेदनशील नहीं होते। उनकी कथा व्यक्ति की निजी इकाई की कथा होती है। वह दूसरे व्यक्ति की इकाई से सम्बद्ध नहीं होती, वह कथा आम मानवीय चेतना की कथा नहीं बनती। इसलिए उनका (फिल्मों का) शिल्प भी एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण के द्वारा निरूपित एवं नियोजित होता है। वह शिल्प सविशेष होकर भी सार्वजनिक रुचि का शिल्प नहीं हो पाता। इसलिए उन फिल्मों के दृश्य भी वैसे ही कम संवेदनशील और कम प्रभावशाली होते हैं। उन दृश्यों में दर्शक अपने-आपको नहीं पाता। वह उनसे दूर तमाशा देखता रहता है। दूसरे शब्दों में, फिल्म उसके दिल और दिमाग में धँस नहीं पाती। जो बातचीत का तरीका होता है, वह जिन्दगी से निकली हुई लहजे की बातचीत का तरीका नहीं होता। देखनेवाले सब सुन लेते हैं, मगर सुनकर भी अनसुनी कर जाते हैं।

विपक्ष की इन बातों में पूरी सच्चाई न सही, थोड़ी तो है ही। इस सच्चाई से इनकार कर देने से काम न चलेगा।

इसलिए सूझ-बूझ से ही 'समान्तर' फिल्मों को बनाना चाहिए, ताकि जो उद्देश्य इनका है, वह ग्रहण किया जा सके और ग्रहण होकर दर्शक को दीक्षित और कुछ हद तक संस्कारित कर सके। यह सोचना कि ऐसे फिल्मों का ध्येय जिये जा रहे जीवन के

यथार्थ को उसकी ही शकल में पेश करना है, इसलिए दर्शकों को उसका आईना दिखा देना ही काफी होगा, सरासर नासमझी होगी। आदमी सिनेमा देखता है, तो अपने पास के जीवन की झलकियाँ तो देखेगा ही, पर वह उन झलकियों को ही देखकर सन्तुष्ट नहीं होता। उसकी लालसा रहती है कि वह उन झलकियों से कोई ऐसी बात पा सके, जो दिल और दिमाग में धरोहर की तरह रख सके और उस धरोहर से प्रभावित होता रहे। माना कि सब फिल्में ऐसी नहीं हो सकतीं; फिर भी प्रयास ऐसा ही होना चाहिए, चाहे कुछ ही वैसी फिल्में बनें। ऐसी ही फिल्मों को देखकर ही आदमी 'समान्तर' फिल्मों के प्रति खिंच सकता है। अभी समान्तर फिल्मवालों को इस दिशा में अथक प्रयास करना बाकी है।

देखिये न-फिल्म तो जीवन का जीता-जागता और बोलता प्रतिरूप होता है, जहाँ ऐक्टर्स और ऐक्ट्रेसेज काम करते हैं, जिन्हें देखकर आभास होता है कि वहसब जैसे सचमुच की जिन्दगी में आ-जा और कामकाज कर रही हैं। 'समान्तर' फिल्मों में इस सच्चाई को तिलमिलाहट की हद पर ही छोड़ दिया जाता है और सिर झुकाकर या आँसू बहाकर या दो-चार चुस्त-दुरुस्त जुमले कहकर स्वीकार कर लिया जाता है, चाहे मजबूरी से, चाहे बेवकूफी से, चाहे दुनियादारी से, और चाहे खौफ-खता या शराफत से। मतलब यह कि फिल्में चाहे जितनी यथार्थवादी हों, वह जिये जा रहे जीवन की फोटो-मात्र हो जाती हैं। ऐसी फिल्मों के देखने से एक निराशा पैदा होती है, जो तकलीफ देती है और जिन्दगी से नफरत पैदा करती है। भले ही ऐसी फिल्मों में आदर्श कुछ भी न रखा जाय, पर इतना तो होना ही चाहिए कि फिल्मों के अन्दर से तड़पती बिजलियाँ निकलती दिखें और देखनेवालों को यह एहसास हो कि फिल्म के कैरेक्टर्स अच्छा जीने के लिए आस-पास के परिवेश से जूझ रहे हैं और हर चन्द कोशिश कर रहे हैं कि जीवन में जो खराब है, बेकार है, वह मिटा दिया जाय।

और आदमी फिर उस खराबी और बेकारी से लाचार न महसूस करे। ऐसे एहसास की बहुत ज्यादा जरूरत है। 'समान्तर' फिल्म कोई खिलवाड़ नहीं है, न कोई प्रयोग है, न चमत्कार है, न दिमागी ऐय्याशी का करिश्मा है, न भानुमती का पिटारा है, न किसी एक आदमी या एक घरवालों की जिन्दगी का नमूना है। 'समान्तर' फिल्म न चकलाघर है, न हज्जाम की दुकान, न क्लासरूम है न दुनिया से कटे, सिर-फिरे लोगों की जमात का चित्रपट है कि जहाँ कोई समुद्र की लहरें देखकर जी रहा है, तो कोई दूसरे की नंगी देह देखकर या छूकर भाव-विभोर हो रहा है। मतलब यह कि 'समान्तर' फिल्मों में जो आजकल यथास्थिति के प्रति मूक समर्पण होते रहकर त्रासित जीवन जीते चले जाने की प्रवृत्ति आयी है, वह यथार्थ की उपज भले ही हो, किसी प्रकार से हितकर नहीं कही जा सकती। इस प्रवृत्ति से आदमी में उस मानवीयता का उदय नहीं होता, जो सचमुच समाजवादी मानवीयता कही जा सके। इससे तो आदमी अपने मूक-मौन रुदन में ही घुलता-मिटता चला जाता है। ऐसी प्रवृत्ति के आदमी केवल बौद्धिक तनाव में रहते हैं और अपने ही दिमागी चित्रों की जिन्दगी जीते हुए असामाजिक इकाई बन जाते

हैं। न उन्हें दूसरों की जिन्दगी से मतलब होता है, न देश की हलचल से। ऐसे आदमी अगर कुछ करते भी हैं, तो अपने दफ्तर के सहयोगियों से या अपने बॉस से या अपनी-अपनी आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में ही किसी-न-किसी औरत या कुमारी से मनोवैज्ञानिक रूप से भी जुड़ जाते हैं और तरह-तरह की विसंगतियों के शिकार बने भटकते रहते हैं।

'समान्तर' फिल्म निश्चय ही तबतक जनता के जीवन का प्रतिबिम्बन नहीं कर सकता, जबतक वह व्यक्ति की जिन्दगी की समस्याओं को, उसके जीने-मरने के यथार्थ को ही व्यक्त करता रहेगा। व्यक्ति का महत्त्व और उसकी गरिमा है। समाज और देश में उसे सही और साबूत रखना है। उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण होते देखकर सबको दु:खी होना है। लेकिन व्यक्ति को समाज में, समूह में, समाकर जीना सीखना पड़ता है। इसलिए व्यक्ति की समस्या समाज और देश से जुड़ी रहती है। इसलिए केवल व्यक्ति, अकेले व्यक्ति, सबसे कटे व्यक्ति, अपनी ही समस्याओं में खोये व्यक्ति, अपने लिए ही एकाकी जीवन जीते व्यक्ति 'समान्तर' फिल्म के हीरो-हीरोइन नहीं बन सकते। यदि वे बनेंगे, तो फिल्म जनता की फिल्म न होगी। इसलिए उनके जीवन-वृत्त के दृश्य भी मार्मिक और संवेदनसील नहीं होंगे। यह फिल्में चाहे जितनी कलात्मकता से क्यों न बनायी जायें, जनता का हृदय नहीं जीत सकतीं। कलात्मकता जीवन नहीं है। कलात्मकता तभी जीवन है, जब वह जीवन को उसकी मानवीयता से उजागर करती है और सबके लिए-आम जनता के लिए उस मानवीयता को ग्रहणीय बनाती है।

सिनेमा एक बड़ा सशक्त सार्वजनिक माध्यम है। यह माध्यम तत्काल फल देने वाला माध्यम है। इस माध्यम से आँखें वह जीवन-दृश्य देखती हैं, जो तुरन्त ही असर करता है। पढ़ा हो, चाहे अनपढ़ अन्धा भर न हो, तो दर्शक अच्छी फिल्म देखकर सराहे बिन नहीं रह सकता।

यह श्रेय 'समान्तर' फिल्मों को दिया ही जाना चाहिए कि इन्होंने फिल्मों में आयी कृत्रिमता को, तड़क-भड़क को, नाटकीयता को, चमत्कार को, सस्पेन्स को, फारमूलेबाजी को और हर तरह के फिल्मी शोषण को तोड़ना शुरू कर दिया है और उसके परिणाम सुखद और शुभ हो रहे हैं। इनका भविष्य उज्ज्वल है।

कुछ लोगों को भ्रम है कि 'समान्तर' फिल्म समसामयिक फैशन की फिल्म है, जो कुछ दिन जीकर मर जायेगी। ऐसा वही लोग कहते हैं, जो जीवन को, आम आदमी के जीवन को और उसकी समस्याओं को, घटिया समझते हैं और आम आदमी को उभरने नहीं देना चाहते। वह सामन्ती और साम्राज्यवादी देन की दु:खद परिणति है कि शोषण चालू रहे, यथास्थिति न बदलने पाये, लोग फिल्म देखें, तो सिर्फ मनोरञ्जन के लिए अथवा अपनी काम-वासनाओं की तृप्ति के लिए ही देखें। दरअसल में यह पैसा कमानेवालों का एक विश्वव्यापी असामाजिक षड्यंत्र है। हर देश में यह षड्यंत्र चालू

है। इसे विफल करने के लिए 'समान्तर' फिल्मवालों को समसामयिकता और आधुनिकता को ऐसे जीवनव्यापी आयाम देने होंगे, जो फिल्म की विषयवस्तु (THEME) को साधारण धरातल से उठाकर आदमी-आदमी के मन की गहरी परतों को तोड़ सके और उस त्रासदी को दिखा सके, जिसमें आदमी, आज के सन्दर्भ में गाँव और नगर में, जीने के लिए मजबूर है। इस त्रासदी को फिल्मों में उन व्यक्तियों को बेनकाब करके भी दिखाना होगा, जो इसको कायम करने में लगे हुए हैं, हर तरफ चारों तरफ। इसका नतीजा यह होगा कि त्रासदी जीनेवाले के प्रति तो दर्शक की सहानुभूति उभड़ेगी ही और त्रासदी को बरकरार रखनेवाले के खिलाफ क्रोध और आक्रोश भी भड़केगा और तब फिल्म में जान पड़ेगी। 'समान्तर' फिल्म को सिर्फ बौद्धिक निष्क्रियता से जिलाये नहीं रखा जा सकता। उसे तो कर्ममय जीवन की क्रियाशीलता का ब्यौरा प्रस्तुत करना ही पड़ेगा। बैठा-ठाला आदमी चाहे दार्शनिक मुद्रा में हो, चाहे तटस्थ मुद्रा में, वह फिल्म में जान नहीं डाल सकता। जान डालता है, तो क्रिया-कलाप वाला आदमी ही। क्रिया-कलाप से फिल्म में गति आती है, वह विकसित होती है, एक भराव आता है उसमें। फिल्म झरने का रूप ले लेती है, नदी के निनाद का रूप ले लेती है।

यह भी याद रखना चाहिए कि बौद्धिकता फिल्म को आमूर्त्तन (ABSTRACTION) की ओर ले जाती है, जहाँ आदमी का आदमीपन लोप हो जाता है और वह उस धुँधलके में अपनी शक्ल-सूरत भी खो बैठता है। वह पहचान में ही नहीं आता। 'समान्तर' फिल्म के बनाने में ऐसे अमूर्त्तन की ओर बहक जाने की बड़ी सम्भावना है।

अमूर्त्तन में पहुँच गयी फिल्म, जीवन की बहुरूपता को, विविधता को, उसके उतार-चढ़ाव को, उसकी ऊँचाइयों को, उसकी मान्यताओं और मूल्यों को और उसकी अपेक्षाओं को समाप्तप्राय कर देता है। जीवन अमूर्त्तित होकर अपना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ही खो देता है। तो ऐसे अमूर्त्तन को अपना-कर 'समान्तर' फिल्म मानवीय बोध के सभी तत्त्वों से शून्य ही हो सकता है। इसलिए 'समान्तर' फिल्म के निर्माताओं को ऐसे अमूर्त्तन के भारी खतरों से आगाह रहना चाहिए।

और सबसे बड़ी जरूरत तो इस बात की है कि 'समान्तर' फिल्म में आज के अलगाव या अजनबीपन (ESTRANGEMENT) को कम किया जाय। ऐसा करने के लिए फिल्म को, परिवेश के साथ-साथ, प्रकृति के दृश्यों से भर देना चाहिए। ऐसे दृश्यों से अजनबीपन का बोध हल्का पड़ेगा और आदमी को अपने मानसिक तनाव को पूरा आघात न झेलना पड़ेगा! उसके आनन्द और उल्लास के आन्तरिक स्रोत सूखने न पायेंगे। वह संवेदनशील बना रह सकेगा।

एक ऐसी भी भयावह स्थिति आ सकती है कि आज की दैनिक विभीषिकाओं और विसंगतियों से घबराकर 'समान्तर' फिल्म के नये निर्माता आदमी को उसकी

आदिम अवस्था में ही चित्रित करने में अपनी सार्थकता समझने लगें। यह भी बेहद गलत होगा। यह पलायन होगा। ऐसे पलायन की ओर झुकना ही नहीं चाहिए।

'समान्तर' फिल्म की शुरुआत भले ही ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज हो, लेकिन उसके जन्म को केवल प्रतिक्रिया के रूप में नहीं लेना चाहिए। प्रतिक्रिया ने उसे जन्म दिया। अब उसे अपने जीवनाभिमुखी पथ पर अग्रसर होना है। इसलिए अब उसे दृष्टि और दिशा से ही उस कथ्य और शिल्प को अपनाना होगा, तो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को मानव-जीवन की समग्रता में दृश्यांकित कर सकने की क्षमता रखते हैं। तभी 'समान्तर' फिल्म आम जीवन का प्रतिनिधित्व कर सकेगी और देश की चेतना को समाजवादी चेतना में रूपान्तरित कर सकेगी! यदि ऐसा न किया गया, तो 'समान्तर' फिल्म भी किसी-न-किसी विरूपता का शिकार हो जायेगी और वह भी केवल विचित्र मनोरञ्जन का साधन ही होगी अथवा मानव-मन की निकृष्ट असामाजिक ग्रन्थियों का अशोभन प्रकाशन ही प्रदर्शित करने लगेगी। फिल्म की कला को भोग की कला नहीं बनने देना है। उसकी कला को चेतना के सर्जन से जुड़ना चाहिए, ताकि वह क्रमिक विकास करती हुई महान् समाजवादी प्रगति का चित्रफलक प्रस्तुत कर सके और इस संसार में आदमी-आदमी की सार्थकता प्रमाणित हो सके।

❐

समीक्षाएँ

कविताएँ श्रीमती राज दीक्षित की

मैंने श्रीमती राज दीक्षित की कविताएँ पढ़ीं। सबसे पहली प्रतिक्रिया तो यह हुई कि कवयित्री की इन कविताओं का स्तर उस अकेले मन का एकाकी स्वर है, जो अपने आस-पास की दुनिया की वस्तुवत्ता से झनझनाता हुआ उठता है और घर और बाहर के परिवेश से टकराता है और टकराकर फिर बौद्धिक चेतना पाकर शाब्दिक लय में विलय होकर छोटे-छोटे अर्थ-खण्डों के बिम्ब-विधान प्रस्तुत करता है। इस बिम्ब-विधान के पीछे कवयित्री की अपनी वैयक्तिकता बराबर सक्रिय रहती है और उसकी यह सक्रियता निरन्तर उस वैयक्तिकता को और निजत्व प्रदान करती रहती है। निजत्व पाकर वह वैयक्तिकता और ठोस और मणिभ हो जाती है। यही वैयक्तिक निजता इन कविताओं की सही पहचान है। तभी तो कविताओं में आयी प्रकृति भी अपना कोई सौन्दर्य पा सकने में असमर्थ रहती है, और यह भी कवयित्री की निजी मानसिक प्रकृति बन जाती है। धूप रेतीला मैदान चाटती है और धुँधली तस्वीरों के रेखांकन दुहराती है। इस दृश्य में मैदान है, मगर रेतीला है जो कवयित्री की मानसिकता का मैदान है। इसमें धूप है, लेकिन चिलचिलाती हुई है। चिलचिलाने का यह प्रयोग कवयित्री के अन्तर्मन की व्यथा को उभारता है और पूरा दृश्य केवल धुँधली तस्वीरों का रेखांकन मात्र हो जाता है। पहले की तस्वीरें अच्छी रही होंगी, लेकिन इस दृश्य तक यानी इस काल-अवधि के आते-आते अपना पहले का रूप भी खो चुकी होती है और धुँधली होकर केवल कुछ रेखाएँ बन जाती हैं। यह आत्मपरकता और भी अधिक आन्तरिक पीड़न को व्यक्त करती है, जब कवयित्री को यह अनुभूति होती है कि संवेदनाएँ निष्ठुर हो गयी हैं और उनकी निष्ठुरता इतिहास को हमेशा-हमेशा के लिए गूँगा बना चुकी है। तात्पर्य यह कि कवयित्री न तो संवेदनशील होकर मन का बोझ हल्का कर सकती है और न इतिहास से अपने लिए कोई सन्देश प्राप्त कर सकती है। कविता छोटी है, लेकिन बौद्धिकता का मणिभ बनकर दूसरे को स्पर्श करते ही खरोंच लेती है।

दूसरी कविता है 'जर्जर वसन्त की फीकी मुस्कान।' इसमें दूर पर दिखायी पड़ रहे खण्डहर के चारों ओर के शुष्क जीवन की मामूली है—सूनापन है, बेचैनी है और इधर-उधर बिखरे धतूरे के इठलाते पौधे हैं। इस दृश्य में कवयित्री ने तूफान की थकान महसूस की है। यानी इस दृश्य तक पहुँचकर तूफान अपनी सारी शक्ति और आक्रोश खो चुका था, और यहीं पर वह थककर रुक गया था। ऐसे दृश्य को देखकर ही कवयित्री ने यह अनुभव किया जैसे फिसलते हुए चले यानी, चले जाते हुए वसन्त की

प्रसन्न मुस्कान फीकी पड़ गयी है। यानी कि वह मुस्कान इस योग्य नहीं रह गयी कि कवयित्री को प्रसन्न कर सके। तभी तो कवयित्री ने जा रहे वसन्त की मुस्कान को फीकी हुई देखा और उसके फीकेपन को इस तरह माना कि जैसे वह फीकी मुस्कान रुक-रुककर सजाने और सँवारने का काम कर रही है; लेकिन वह न सजा पाती है, न सँवार पाती है, बल्कि निकट के सम्बन्धों की एक अजीब भयावह परिभाषा बन जाती है। इस कविता में भी प्रकृति का एक खण्ड-चित्र कवयित्री के मन का एक आत्मपरक खण्ड चित्र बन गया है।

तीसरी कविता है खून की बूँदों का सीमाएँ तोड़ने के बारे में। बूँदें सफल होती हैं सीमाएँ तोड़कर, लेकिन सीमाओं के टूटने पर वह वैभव नहीं प्राप्त कर सकीं, जिसके पाने के लिए उन्होंने सीमाएँ तोड़ीं। परिणाम उल्टा हुआ। उम्मीदों का अभियान रेतीला हो जाता है और वही रेतीला अभियान उस वैभव का स्थानापन्न बन जाता है। इस विपरीत परिणाम के पीछे कवयित्री की क्षुब्ध मानसिकता बाहर आकर बोल उठती है। तभी तो यह कहने के लिए विवश हो जाती है कि उसका जीवन, जोकि एक साफ-सुथरे खेत के समान था और जिसका इतिहास अभी नया और ताजा था, वह अब उसमें घृणा का नया बीज बोये। उसकी यह नफरत स्वयं से है और यह उत्पन्न हुई है सीमाएँ तोड़ने पर भी नवोल्लास का जीवन न पा सकने की वजह से।

एक कविता है—गर्म-गर्म हावा, झुलसी हुई पत्तियों और अत्याचार बर्दास्त करते हुए गुमसुम खड़े पेड़ों की। यह दृश्य भी बहुत छोटा है, लेकिन गर्म हवा और उसके झुलसी हुई पत्तियों के गिरा देने से जो पीड़ा कवयित्री को हुई है, वह भी उसकी निजी पीड़ा है, तभी वह मौन खड़े पेड़ों को यह अत्याचार बर्दाश्त करते हुए देखकर झुँझला उठी है।

एक और बड़ी मार्मिक कविता है। अकेला दिया सुलग रहा है और इस सुलगने को अपनी जिन्दादिली समझता है और इस जिन्दादिली पर मुस्कुराता हुआ धीरे-धीरे खुशियाँ बिखेरता है। यह स्टैंजा (छन्द) जीने की दृढ़ता को व्यक्त करता है। दूसरे स्टैंजा में यही दिया अँधेरेपन में भी सूझ-बूझ और समझदारी से आस-पास के लोक से सम्बन्ध स्थापित करता है। इस स्टैंजा में भी जीने की अदम्य उत्कण्ठा का आवेग है। और तीसरे स्टैंजा में इस दिये की परीक्षा लेती है। रुख बदल-बदलकर हवा और यह हवा भी बड़ी बेचैनी से बार-बार धक्के मारती और बुझाने का प्रयास करती है। कवयित्री ने यहीं तक पहुँचकर कविता समाप्त कर दी है; इस बात का कोई संकेत नहीं दिया है कि वह दिया हवा में बुझ गया या नहीं, लेकिन बार-बार इम्तिहान लेने की बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिया जलता ही रहता है और उसकी परीक्षा होती ही रहती है। मैं समझता हूँ कि यह कविता कवयित्री की बड़ी अर्थवन्त और जीवन्त कविता है।

एक कविता है, सहजन का अधकटा पेड़। यह पर-पीड़न को और उन लोगों की मनोवृत्ति को एकसाथ प्रकट करती है, जो इस वृक्ष की मृत्यु का महोत्सव मनाने में

संलग्न हैं। सहजन शब्द ही बड़ा सार्थक है, जो एक पेड़ का नाम है, लेकिन साथ-ही-साथ 'सह' और 'जन' का, अर्थात् साथ के आदमी का भी सूचक है। यह सहजन आम आदमी हो सकता है, तो सहजन का पेड़ कविता के आदि में ही आम आदमी बन जाता है और कविता आम आदमी के जीवन से सम्बद्ध हो जाती है। तभी तो आम आदमी की अधोगति से वही लोग महोत्सव मनाते हैं, जो आम आदमी की उन्नति नहीं चाहते और स्वयं आम आदमी का शोषण करते रहते हैं। यह पेड़ हरा होने की ख्वाहिश जीता है कि वह हरा होकर जिये, लेकिन इसके पहले ही कि वह पूर्ण विकास पाकर प्रलम्बित और दीर्घकाय बने, बीच से काट दिया जाता है। कवयित्री उस कटे पेड़ पर धूप पड़ती देखती है। अनायास ही कवयित्री के मन में इस दृश्य को देखकर आम आदमी का बिम्ब उभर आता है, जो पेड़ के समान ही हताहत कर दिया जाता है। लेकिन कविता की अन्तिम तीन पंक्तियाँ Conceit का रूप पा गयी हैं। इनमें कविता भीतर से विकसित नहीं हुई, वरन् दृश्य के बाहर ले जायी गयी है और सामाजिक वैषम्य से बलात् आरोपित कर दी गयी है।

एक और उम्दा कविता है—बिजली द्वन्द्व को बड़ी सादगी से जमीन पर उतारती है। इससे दहशत के मारे अनेक हस्तियाँ काँप-काँप जाती हैं और शान से अकड़े खड़े पेड़ अपना सिर झुका लेते हैं और यह दृश्य इतना मर्मस्पर्शी है कि चर्चा का विषय बन जाता है। इस कविता में सामाजिकता भी है, भटकनेवाली बिजली के माध्यम से भटकते लोगों के आन्दोलन की छायाभिव्यक्ति है, राजनीति के माहौल की परिणति है। आन्दोलन से डरे हुए लोगों की छायाकृतियाँ हैं और उन दर्पस्फीत, यथास्थिति को बनाये रखनेवाले व्यक्तियों की झाँकी है, जो पहले तो अकड़े खड़े शान दिखाते रहते हैं और बाद को परास्त होकर हार मान लेते हैं और सिर झुका लेते हैं। कवयित्री आत्मपरक होकर जब अपने में सिमट जाती है, तब उसकी सारी संवेदना उसे विगलित तो नहीं करती, लेकिन बौद्धिकता का आयाम लेकर उसे जीने के लिए मजबूर किये रहती है, यह एक शुभ लक्षण है, अन्यथा कवयित्री अपने निजत्व में डूबकर विवेकहीन छोरों को छू लेती है और उस भयावह मानसिक स्थिति तक पहुँच जाती, जहाँ से उसका अपना उद्धार असम्भव होता। अपनी एक दूसरी कविता में वह इसे स्वीकारोक्ति के रूप में कहती है कि उसकी दृढ़ मान्यताएँ ऐसी हैं कि जो उसे निरन्तर तीक्ष्ण भार वहन करने के लिए विवश बनाये हैं और उसे उफ तक नहीं करने देतीं, भले ही इस भार से उसका दम ही क्यों न घुट रहा हो? उसे इस बात का भी एहसास है कि जब सीमाएँ यानी अपनी विवशताएँ मापदण्ड तोड़ती हैं? यानी दृढ़ मान्यताओं को अतिक्रमण करती हैं, तो वैसी दशा में अवश्यम्भावी होता है कि विवशताओं से मान्यताएँ तोड़नेवाले व्यक्ति को जहर पीना पड़े। यह कविता मानव-मूल्यों की सुरक्षा की गारण्टी का घोषणा-पत्र है।

एक स्त्री का चित्र है, जिसपर पाबन्दी लगा दी गयी है कि वह अकेले घर में कैद रहे। इस रहने का जो परिणाम होगा, वह उसे सोच-सोचकर डरती है। उसे दूरियों का

कोई एहसास नहीं रह जाता। जैसे दूरियों ने अपनी बाँहें सिकोड़ ली हों, वह केवल वह रह गयी है और अपनी निकटता में ही रहकर अपनी ही निकटता को जीती रहती है और जैसे अपनी ही तस्वीर का बोझा लादे हुए है। वह बन्द घर में आशीषों में रहकर भी बँधी रहने का एहसास करती है। उसे लगता है कि घर की अन्दरूनी आशीषों ने ही उसे जिन्दा रहने की इजाजत दे रखी है। मैं नहीं जानता कि यह कविता स्वयं कवयित्री का अपना आत्मविवरण है या कि अधिकांश भारतीय नारियों का, जो भी हो, यह कविता बौद्धिक भी है और साथ-ही-साथ इसका भावदृश्य भी प्रभावपूर्ण है।

किसी प्रिय की नादिरशाही ऐसी होती है कि वह दूसरे की हँसी को बर्दाश्त नहीं कर पाती। यह दूसरा व्यक्ति हँस नहीं पाता, क्योंकि यह उस नादिरशाही से आतंकित है; लेकिन स्वभाववश अथवा दायित्वबोध के कारण इस अदमनीय नादिरशाही से तनाव पैदा होने की जरूरत महसूस करते हुए भी तनाव न पैदा करने की एक सीधी-सादी जुगुत निकाल लेती है, और यह जुगुत हँसी को नकाब के नीचे छिपाने की इजाजत जैसी माँग लेती है। इजाजत शब्द बड़ा सार्थक हो गया है। यह शब्द हँसी छिपा लेनेवाले व्यक्ति की शालीनता का पूरा परिचय देता है। बर्बर नादिरशाही से सांस्कृतिक शालीनता ही प्रतिशोध ले सकने में सक्षम हो जाती है, कवयित्री ने यही छोटी-सी कविता में कर दिखाया है।

सामाजिक मान्यताओं में पली गृहिणी जब अपनी मान्यताओं को घर के भीतर लहूलुहान होते देखती है, तो उसे विवश होकर सविवेक जिन्दा रहने के लिए पारस्परिक तनाव-शैथिल्य बनाये रखने के लिए अनुभवी होना पड़ता है और उसे अपने अनुभव से एक सम्बन्धी की तरह रिश्ता जोड़ना पड़ता है और थकन महसूस करते हुए भी बलात् अपने शृंगार को सँवारना पड़ता है। इस सँवार का रूप उलझे बालों को कंघी से सँवारने का रूप ले लेता है। कितना निर्वाह करना होता है गृहिणी की माया और ममता से घर के अन्दर जीने के लिए और दैनिक खटपट से बचने और उबरने के लिए। उसकी हालत यहाँ तक पहुँच जाती है कि पिछली सुन्दर यादें उसके शरीर के एक कोने में सिमट कर बैठ जाती हैं और वह स्वयं यह अनुभव करती है, जैसे कि नफरत से मिलनेवाले धक्कों ने उसके पैर में बेड़ियाँ डाल दी हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो यही कहना पड़ेगा कि यहाँ भी शालीनता से कैद रहने में ही गृहिणी अपना दायित्व समझती है और यह घर से बाहर भी परित्याग का पथ नहीं अपनाती। यह मनोदशा मध्यमवर्ग के घरानों की स्त्रियों की है, जहाँ वे मरते दम तक इसी शालीन आत्मबोध से जीती रहती हैं।

एक कविता है 'मैंने कोई गुनाह नहीं किया फिर भी अपना परिचय देते हुए डरती हूँ'। यह बात सच है, उसके डरने का कारण किसी की आँखों में तैरती शक की लकीर, जो इम्तिहान की दीवाल किसी शुभ मुहूर्त में खड़ी करती है। यह शक बड़ा दु:खदायी शक होता है और इसकी छाया सबसे पहले आँखों से ही प्रकट हो जाती है। शक किये

जाने वाली को इम्तिहान देना पड़ता है, जो जड़ दीवाल की तरह उसे घेर लेता है और यही उस दीवाल के दोनों तरफ खड़े होते हैं—बनावटी चेहरेवाले लोग, जिनके हाथों में कान सतर्क होकर खड़े रहते हैं। यही लोग अपनी नजरों से देखते और घूरते हैं और लक्ष्मणरेखा जैसी खींचते रहते हैं। ऐसी सामाजिक स्थिति में पड़ी स्त्री अपना परिचय दे तो कैसे दे? विश्वास करा सकने की कोई शकल नजर नहीं आती और वह परपीड़न से आक्रान्त होकर यही महसूसती है कि घर के लोग उसके तथाकथित बनाये गये लांछन को बड़ा करते चले जाते हैं, ताकि वह उसे अपने पारस्परिक सम्बन्धों के प्रासाद से बाहर निकाल दें। लेकिन कोई गुनाह हो, तब तो उसे बाहर निकालें। उसकी परवशता उसे अत्यन्त दयनीय बना देती है। दूसरी ओर घर के वे लोग हैं, जो दृढ़ बने रहते हैं और उसको गुनाहगार समझते रहते हैं। वे चाहते हैं कि रोज-ब-रोज की आपसी टकराहट न हो; वह भी यही चाहती है। रास्ता दोनों तरफ नजर नहीं आता। यह लोकलाज है, जो घर के लोगों को आक्रमण करने के लिए निरन्तर मजबूर करती रहती है, और गृहिणी को निरन्तर हताहत करती रहती है। मैं समझता हूँ यह कविता भी बड़ी तीक्ष्ण मार करती है—व्यंग्य से।

एक कविता है 'नहीं महसूस करते शर्म'। यह वास्तव में एक न होकर तीन कविताएँ हैं। पहला स्टैंजा (छन्द) उस व्यक्ति के लिए है, जो गुनाह के रूप-रंग को पहचानते हुए भी गुनाह करते रहने से बाज नहीं आता है और न ही शर्म खाता है। सीधी-सादी अभिव्यक्ति है। दूसरा स्टैंजा उस व्यक्ति के लिए है, जो यह नहीं महसूस करता कि यह परजीवी है, हालाँकि वह किसी दूसरे की साँसें पाकर ही अपनी जिन्दगी चलाये जाता है और उसकी शक्ति ही उसको यश अर्जन करने में सफलता देती है। तीसरा स्टैंजा उस व्यक्ति से सम्बन्धित है, जो गुमसुम रहकर दूसरे को यह अवसर देता है कि वह दूसरा उसकी गुमसुमी को दयालुता समझे और वह दया का पात्र दूसरा व्यक्ति विवश हो जाये कि अपनी मानसिकता को शब्दबद्ध करे। इस दूसरे व्यक्ति को अपनी रचना भी चीख में मिले अन्न की तरह लगती है। ऐसा भी हो सकता है कि इस मनोदशा का कारण तीन व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति हो। यह कविता भी मार्मिक विडम्बना की रचना है।

घर के भीतर जो खालीपन है और जो अँधेरा है और जो आत्महनन है, उसका प्रतिबिम्बन भी कवयित्री ने अपनी कविता में व्यक्त किया है। कविता है— अँधेरी कोठरी में हाथ फैलाये हुए एक काली छाया निगलने को बाहर आ रही है। यह दृश्य खूँखार दृश्य है। इस छाया को आते देखकर घर का आदमी चिल्लाने लगता है और उससे बचने के लिए भागता है और उसे न देख पाने के लिए अपने हाथ की अँगुलियों को अपनी आँखों पर रख लेता है। वह पहले से ही घायल टाँगोंवाला व्यक्ति है, जो इस बात का सूचक है कि वह भगकर-बचकर कहीं नहीं जा सकता। वह कहने के लिए शब्द खोजता है, लेकिन बेहद घबराकर बेसुध हो जाता है। उसे पसीना आ जाता है। यह बचने के लिए आगे बढ़ता है, तो सामने खड़े दर्पण से टकरा जाता है और टकराते

ही आँखें खोलता है, तो उसे खुद ही अपना चेहरा खूनी नजर आता है और उसको भय व्याप जाता है। चेहरा खूनी कहकर कवयित्री ने उसके चरित्र को उभारा है और यह कह दिया है कि यह वह व्यक्ति है, जिसने दूसरों की इच्छाओं और आकांक्षाओं का हनन किया है अथवा अपने जीने के लिए उसने अपनी ही आदमियत की हत्या की है। यह अहसास पैदा करने के लिए कवयित्री ने यह रचना की है और इसमें उसे पूरी सफलता प्राप्त हुई है। यह मध्यमवर्ग के घर की फैण्टेसी का निरूपण है, जिसे देखकर भय होता है। बात सिर्फ खाली घर की है, लेकिन खाली घर किस प्रकार से कितना कुछ बिगाड़ देता है कि ऐसे घर से घृणा होने लगती है और पूरे वातावरण से अब और उबकाई आने लगती है।

एक जगह क्या खूब कहा है कवयित्री ने—कि हम दूर-दूर देखने के अभ्यस्त देखते हैं, तो बस गुनाह की विभिन्न मुद्राएँ (यानी गुनाह के अलावा कुछ नहीं देखते)। यह है आज के लोगों की दूर देखने की गुमराह आदत। चोट है तो जैसे हथौड़े की।

लादे हुए दर्द का बोझ ढाढ़स बँधाती है रात। मार्मिक अभिव्यक्ति है। इसी तरह कवयित्री ने एक कविता में बड़ी सटीक बात कही है और वह यह है कि जब शृंखलाएँ टूटने लगती हैं, तो जैसे शृंखलाएँ दोहरे मूल्य और मापदण्ड का सहारा लेती हैं।

और एक जगह एक और भी बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति मिली। कवयित्री सम्बन्ध तोड़ने का फैसला करती है, तो फिर बहुधा वह व्यक्ति उसे और निकट दिखाई देने लगता है।

अन्त में इतना और कहूँगा कि कवयित्री की बौद्धिकता इसको आत्महनन से निरन्तर बाहर खींच-खींचकर ले जाती है और उसके सांस्कृतिक मानव-मूल्यों की शालीनता उसे बार-बार सहनशील बनाये रखती है। लेकिन यह मध्यमवर्गीय चरित्र इसलिए और भी सहानुभूति प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वह तनाव-शैथिल्य को तोड़ते रहने की महत्ता अत्यधिक समझता है। कविताएँ आधुनिक इस दृष्टि से हैं कि उनमें युगीन परिवेश की सम्बद्धता है और पारम्परिक काव्य के कथ्य और शिल्प का किंचित् भी व्यवहार नहीं किया गया और इनसब कविताओं की ओट में मुझे वह कवि-हृदय धड़कता मिलता है, जो मानवीय सम्बन्धों की गरिमा से रक्त को प्रवाहित रखता है और मस्तिष्क को कुण्ठित नहीं होने देता।

❑

दिन के तारे

यह उपन्यास हिन्दी के कथा-साहित्य को नया धरातल देता है। नये धरातल से मेरा तात्पर्य नयी टेकनीक की अवतारणा है। इस उपन्यास का ध्येय चरित्र-चित्रण को सोने, चाँदी, कसकुट और ताँबे-पीतल की गढ़ी-अनगढ़ी मूर्तियाँ निर्मित कर कलाकारों की पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त आदर्शवादिता का प्रचार-प्रसार नहीं है, न ही केवल मानवीय दुर्बलताओं को एक-दूसरे से टकराकर, उनका खून बहाकर, धीरे-धीरे धड़कते दिल की गति को तीव्र करने का है। इसमें वही वस्तु उभारकर ऊपर लायी गयी है, जिसे अब तक उपन्यासकार अपनी रचनाओं में स्थूल अक्षरों के नीचे गहरे में, दुनिया की आँखों से हटाये, दबी रहने देते थे। परिस्थितियों का दास मानव-जीवन कैसे-कैसे प्रयत्न करता है, किस-किस ओर वह एक को छोड़ दूसरे की ओर खिंचता-घिसटता है, क्या-क्या ताने-बाने बुनता है, क्या बिगाड़ता क्या बनाता है—इस सबका इस उपन्यास में हल्का-शाब्दिक वर्णन है, किन्तु इसके बाद स्थल-स्थल पर मानसिक, सामाजिक, राजनैतिक और दिन-प्रतिदिन की अनेकानेक बहुमुखी समस्याओं का बौद्धिक आपरेशन किया गया है। यही विशेषता इस उपन्यास का नया धरातल है। पिछले हिन्दी-लेखकों ने इस ओर अपनी कलम को नहीं खींचा था। पर श्री नरोत्तमप्रसाद नागर ने इसे ही अपनाया है।

असन्तोष की उँगलियों ने ही कलम पकड़ा है और इस उपन्यास में उसी का मन-मुताबिक चित्रण हुआ है। शशि कहता है—''असन्तोष का होना बुरा है। लेकिन इसका न होना और भी बुरा है। यह असन्तोष ही है, जो हमें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है। असन्तोष को मैं बुरा नहीं समझता। वह प्रगति का अस्त्र है और जिस दिन जीवन का यह असन्तोष संगठित होकर आगे बढ़ेगा, उसी दिन से नये युग का आरम्भ होगा।'' शशि को पारिवारिक जीवन से असन्तोष था। वह, अपना घर छोड़कर, इसी से उस सत्याग्रहाश्रम में प्रवेश करता है, जो पहले प्रेमाश्रम बनने को था, पर न तो विधवाश्रम है और विधवाश्रम बनने के उपरान्त व्यवसाय का केन्द्र बनकर पापाभार बन गया। कोतवाल, शान्ति, तकलीबाबा, मुख्तार, सुशील, कान्त, शून्य-चित्र, बाबू जी, मुरली की माँ, विमला, रमा, कमलनाथ, बालू भैया, आशा, और जीवनराज में किसी-न-किसी प्रकार असन्तोष है, जो उन्हें उनके घर से खींच लाता है और बाहर के क्षेत्र में उनका कचूमर निकालता है। घर से हटने और इस कचूमर निकलने के दिनों में प्रत्येक व्यक्ति अपने माँ-बाप के जीवन को खरोंचकर अन्वेषक और संशोधक की दृष्टि से देखता है; अपने पारिवारिक सम्बन्धों के खारेपन को, टेस्टट्यूब में रखकर, परीक्षा

करता है और वैवाहिक उच्चादर्श के आत्मिक सम्मिलन की व्याख्या करता-करता सेक्स के इस युग की दिशायें चूमता है। शशि, जीवनराम और बाबू जी का ऐसा प्रबल प्रवाह उमड़ा है, जिसे देखते ही बनता है। जीवनराम स्कूल के अध्यापकी स्तर से ऊपर उठकर मणि बहन के पिता की मिल की हड़ताल के अग्रणी नेता बनते हैं और अन्त में कांग्रेस की वार्ड कमेटी को हथियाकर चलना चाहते हैं, पर असफल होते हैं, जब मणि के पिता कांग्रेस-चुनाव को अपने धन से खरीद-सा लेते हैं। यह व्यक्ति एक विशेष प्रतिभा रखता है। इसकी वाणी ब्याह की प्रथा का अत्यन्त कटु पक्ष दिखाती है। यह ख्याल भी नहीं होता कि यह शख्स दरजी की दूकान कर चुका है। कपड़े धोने का और रँगने की फैक्टरी का भी आयोजन कर चुका है। अन्त में मिल मैनेजर बनकर वहाँ से त्याग-पत्र देता है। इसी के चक्कर में पड़कर शशि ब्याह को दासों का सभ्य संस्करण समझता है, गर्भवती स्त्री को बलि की बकरी समझता है और अन्त में बहन के साथ ब्याह तक करने की कल्पना करता है। इसके (जीवनराम) साथ मद्रासिन युवती के प्रेम की घटना इतनी मजेदार है कि इसका दूसरा साहित्यिक जोड़ नहीं मिल सकता। आशा ने सही ही कहा है—''जीवनराम न कहकर जीवन के ऐसे राम उन्हें कहना चाहिए, जिनकी सीता का लोप हो गया है—सीता का नहीं, वरन् सीता को पाने और अपना बनाये रखने के जिस आत्मविश्वास की जरूरत होती है, उसका लोप हो गया है।'' शशि ने एक दिन जीवनराम के इस प्रभाव से ही प्रेरित होकर अपनी पत्नी से पूछा था—''तुम्हें मेरी कसम है। सच-सच बताना, तुम मुझे अपना क्या समझती हो—आश्रयदाता अथवा प्रेमी'' जीवनराम सेक्स का एक पहलू उभारता है। शशि दूसरा पहलू। बाबू जी तीसरा पहलू। बाबू जी शान्ति पर इससे मुग्ध हैं कि वह शरीफ होते हुए भी वेश्या बन गयी है। यही नहीं, वह एक नंगे नृत्य की सृष्टि भी करते हैं। शशि, जीवनराम और बाबू जी एक सेक्स-त्रिभुज बनाते हैं, जो साहित्यिक परिधि के भीतर खींचा गया है।

सेक्स के अतिरिक्त राजनीति पर भी इस उपन्यास में पर्याप्त सामग्री है। यदि यह कहा जाय कि राजनैतिक क्षेत्र पारिवारिक क्षेत्र का एक दूसरा व्यापक संस्करण मात्र है, तो अत्युक्ति न होगी। घर में बहन का दूध, किताब के पन्ने जलाकर, गरम किया जाता है; राजनीति में कपड़ों की होली जलायी जाती है। घर के बच्चे लट्टू नचाते हैं। नेता तकली नचाते हैं। घर में माता-पिता की मार है, तो वहाँ पुलिस की मार है। घर के ईश्वर राजनैतिक क्षेत्र में जन-संगठन के अधिष्टापक बन जाते हैं। घर का तोड़ा-प्रेत छुआछूत की कल्पना को प्रबल करके रखता है। वही तोड़ा-प्रेत देश के नेता में अन्तर्वाणी बन जाता है। घर की मन की कुढ़न पर खाना त्याग बैठने की आदत भूख-हड़ताल का रूप ग्रहण कर लेती है। पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्ति पाने की उत्कण्ठा देश के धरातल पर आकर आमरण अनशन अथवा आत्महत्या का रूप धारण कर लेती है। जेल में बन्द कैदी अपने को गर्भ में स्थित सन्तान से कम नहीं समझता। घर की माँ देश की धरती पर ''भारत माता'' हो जाती है। आश्रम और नर्सरी में अन्तर ही नहीं रहता। शशि के दादा का शतरंज खेलने दिल्ली जाना जैसे गान्धी जी का दिल्ली जाना बन जाता है। शशि की लड़कपन की आदत कि सहज हल हो जानेवाला परचा वह छूना

अपना अपमान समझता था—व्यापक राष्ट्रीय जीवन में आकर अधिक व्यंग्य से व्यक्त होती है। वह योंकि नेता ऊँचे-ऊँचे प्रश्न सुलझाते हैं, साधारण जनता के साधारण प्रश्न उन्हें आकर्षित नहीं जान पड़ते। उन्हें वह छूना ही अपमान समझते हैं। सोमा का घर की दीवारों के भीतर सिर में मिट्टी का तेल डालकर आग लगाकर मरने की योजना गान्धी जी के आमरण अनशन का ही उदाहरण है। पारिवारिक और राजनैतिक स्तरों के अनुरूपण का ऐसा निर्देशन कराना साहित्य की एक अनुपम सामग्री है। नागर जी की यह निजी निधि है। भाभी-जागरण से नारी-जागरण तक पहुँचने की क्षमता सिवाय नागर जी के और किसी में नहीं हो सकती।

इसी सिलसिले में उन स्थलों का भी यहाँ परिचय दे देना आवश्यक है, जिन्हें भुलाना नामुमकिन है। राष्ट्रीयता का व्यवसाय से किसी कदर कम न होना—कार्यालय का वर्किंग कमेटी का रूप लेकर काले अक्षरों में सजीव हो उठना—रोओ मत! जमकर काम करो—''विश्वास करो'', ''सादा जीवन'', ''लव आल'', ''ट्रस्ट फिउ'' और 'प्रियपात्र का अधिक अविश्वासी बन जाना आदि-आदि बातें पूर्ण रूप से वह घटित करती हैं कि—उपन्यास का व्यंग्य सस्ता और बाजारू नहीं है; मार्के का है, प्रथम श्रेणी का है और अनुपमेय है। ''जीकर जो अमर नहीं हो सके वह मरकर अमर होना चाहते हैं। जीवन की हार को छिपाने के लिए सु-मृत्यु की पताका फहराने का प्रयत्न वह करते हैं....।'' इस व्यंग्य-वाक्य के बल की तुलना किसी भी महाशक्ति के साथ की जा सकती है। यह सत्य है कि इस उपन्यास में उभरकर आया है।

पिस्तौल से तकली तक, चाय से ठण्डाई और ठण्डाई से बीयर तक की मनोवैज्ञानिक यात्रा में एक जोरदार पहलू (जीवन का) खिंच गया है। फिर बीयर से कोठे तक पहुँचने की दास्तान ने रही-सही कसर भी पूरी कर दी है। इस कथा-भाग की आधारभूमि, नीरस जीवन में उत्तेजना की आवश्यकता है।

शान्ति का दो कमरों का रखना और फिर उनसे अपने देह और अभ्यन्तर की तुलना करना भी अनोखी साहित्यिक सृष्टि है। नारियल को बाबू जी के सिर से और फिर भ्रम से एक करने में नागर जी ने कमाल दिखाया है।

अन्त में नागर जी के निम्न वाक्य एक समस्या के रूप में प्रकट हुए हैं। ''बड़े घर के बालकों की बात तुम कर रहे हो, वे चाहें तो अपनी माँ की गोद में बैठे-बैठे अथवा अपनी माँ की गोद के लिए लड़ते-झगड़ते अपना सम्पूर्ण जीवन बिता सकते हैं। लेकिन मैं बात कर रहा हूँ ऐसे बालकों की, जो छुटपन में ही माँ की गोद छोड़कर अपने पाँव पर खड़े हो जाने के लिए तैयार हैं। ऐसे बालकों को लेकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं।'' वास्तव में यही प्रश्न आजकल भारत के सामने है। इसका उत्तर ही आजादी की सारी लड़ाई का अब तक का लेखा है, जिसे हम सबने कल तक बीस-तीस साल से देखा है।

नागर जी के उपन्यास की सारी सामग्री एकदम नयी है। हिन्दी के इस उपन्यास का विश्वविद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों में होना परमावश्यक है।

❑

'रास्ते के बीच' दिविक रमेश का काव्य-संकलन

चौदह रुपये मूल्य के सन् 1977 के, इसके प्रथम संस्करण में 51 कविताएँ हैं-जो 91 पृष्ठों को घेरे हुए हैं।

शमशेबहादुर सिंह ने इसकी कविताओं को पढ़कर उनमें 'मोहभंग का साक्षात्कार और संघर्ष' को विम्बित देखा है।

रामदरश मिश्र को इन कविताओं में जीवन के विविध अनुभवों की अभिव्यक्तियाँ मिली हैं। उन्हें इनमें एक खुलापन भी मिला है। इन कविताओं को पढ़कर उन्हें कविताओं को पढ़ने का सुख मिला है। दिविक की दृष्टि को उन्होंने सामाजिक विचार तक पहुँचाने की कोशिश कहा है। उन्होंने इन कविताओं में वह लचीलापन पाया है, जो सर्जन को अधिकाधिक सम्भावनापूर्ण और गहरा बनाने की शक्ति रखता है।

बलदेव वंशी ने इन कविताओं में मामूली आदमी के हक में लड़े जानेवाले युद्ध और युद्ध के निर्णय और साहस और संकल्प को संघटित हुए देखा है। इनमें मानवीय प्रतिबद्धता का विचार, इनकी शक्ति और तर्क होकर ताजे खून की तरह प्रवाहित पाया है। वह विचार रूढ़ धारणाओं को अस्वीकार करता है और भावस्फीति के मोह पर अंकुश लगाता है। इनमें आवेग शमित ढंग से व्यक्त हुआ है। इनमें स्थितियों से संवाद साधते हुए प्रश्न खड़े किये गये हैं और वे प्रश्न वर्त्तमान समय और कविता के तकाजों को रेखांकित करते हैं। ये सहज भाषा में हैं। इनमें आज का काव्य मुहावरा प्रयुक्त हुआ है।

राजीव सक्सेना ने इन कविताओं में यथार्थ-बोध और भाषा-शोध जैसी भौतिक शक्तियों के परिष्कार को प्रतिष्ठित देखा है और यह भी कहा है कि दिविक रमेश ने परिष्कार को अपने कव्य-संस्कार की धुरी बनाने का प्रयत्न किया है। और इसीलिए इस कवि की कलात्मक प्रक्रिया निरन्तर विकासमान है। यथार्थ को दिविक रमेश ने अभिजात दृष्टि से नहीं पहिचाना बल्कि उसने उस दृष्टि को ठुकरा दिया है। उसके स्थान पर उसने नयी सामान्य, मेहनत-कश जन की दृष्टि स्वीकार की है, जो स्वाभाविक भी है। यह दृष्टि ही भाषा, बिम्ब, प्रतीक और मुहावरे की खोज के लिए कवि को आम बोलचाल की भाषा तक ले जाती है और उसकी रचना की समृद्धि के असली स्रोत से जोड़ देती है। दिविक रमेश का कृतित्व इसी स्रोत से जुड़ा है और इसी से शक्ति प्राप्त करता है।

प्रेम जनमेजय ने इन कविताओं में व्यवस्था की साजिश में फँसे संघर्ष के लिए

आकुल व्यक्ति का दर्द पाया है, जिसे दिविक ने पूरी ईमानदारी के साथ समझा तथा अभिव्यक्त किया है। एक निर्भीक राजनैतिक समझ भी इन कविताओं में विद्यमान है। वह राजनैतिक समझ कवि की विचारधारा और लक्ष्य तक पाठकों की साफ-साफ पहुँचा देती है।

मैंने इन उपर्युक्त व्यक्तियों के विचार पढ़े, तो मुझे बेहद प्रसन्नता हुई कि दिविक रमेश को इतने लोगों ने सराहा और वह कवि निश्चय ही सही समझ और सशक्त सम्भावनाओं का कवि होगा। इसीलिए इस संकलन की कविताएँ मैंने बड़े मनोयोग से पढ़ीं और उनको उनके निजी कथ्य और शिल्प में समझा और परखा।

मेरे मित्र शमशेरबहादुर सिंह ने इन कविताओं को मोहभंग के साक्षात्कार की कविताएँ कहा है और संघर्ष की रचनाएँ बताया है। जहाँतक मोहभंग वाली बात है, वह बहुत ऊपरी और सतही ढंग से कही जा सकती है। बाबा तुलसीदास ने अपनी रामायण में नारद का मोहभंग किया था। वह बड़ा सशक्त और मर्मस्पर्शी था। दिविक रमेश की इन कविताओं के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि इनसे स्वयं कवि का कोई मोहभंग हुआ है। मोहभंग की भाषा केवल आधुनिकता के प्रभाव से अंकुरित नहीं होती और न ही समग्रता से वञ्चित होती है।

इस संग्रह में सबसे लम्बी कविता है 'रास्ते की बीच : एक आधुनिक आदमी'। यह 74 पृष्ठ से 91 पृष्ठ तक फैली हुई है। इससे कुछ छोटी कविता है : 'शहर एक परिचित'। यह पृष्ठ 5 से पृष्ठ 7 तक फैली हुई है। शेष सभी कविताएँ इनसे छोटी हैं और अपने कथ्य और शिल्प में कम व्यापक हैं। इसलिए मैं इन दोनों कविताओं के विषय में जो कुछ कहूँगा, वह इस लेख के बाद में कहूँगा।

'अस्तित्व की खोज' (पृष्ठ 21) में कवि अपने पूर्वयुगीन लोगों की पोथियों में लिखे शिष्टाचार के प्रति शंकालु है। शंकालु होने का कारण उसने यह बताया है कि उन्होंने बहुत बहकाया है, चापलूसी करना सिखाया है और इसके अतिरिक्त भी वह यहाँ तक निर्भय रहे हैं कि उन्होंने आदमी की स्थितियों का फायदा उठाकर आदमी का गला माँग लिया और उसका अँगूठा काट लिया। इस पुरानी बात को उभारकर कवि ने अपने पूर्वयुगीन लोगों की तथाकथित अमानवीयता को व्यक्त करते हुए उनसे अपना और अपनी पीढ़ी का नाता एकदम तोड़ लिया है और अन्त में यह घोषित कर सका कि अब वह उन्हें अपने को नहीं समर्पित कर सकता, क्योंकि उन्होंने उसके (यानी आदमी के) मानवीय अस्तित्व को मिटाया था। यह आज की युगीन युवा मानसिकता की अभिव्यक्ति की कविता है। इसमें एक प्रकार का दोषारोपण तो है ही, लेकिन साथ-ही-साथ वह नयी विवेक-दृष्टि भी है, जो पीढ़ियों पुरानी मानसिकता के विरुद्ध चुनौती के रूप में खड़ी हो गयी है। इसी दृष्टिकोण को कवि ने अस्तित्व की खोज का नाम दिया है। चुनौती की यह कविता भावाकुल कविता न होकर आक्रामक युग-बोध की कविता है।

'एक पौराणिक प्रसंग से' (पृष्ठ 29) नामक कविता में कवि ने कृष्ण और जयद्रथ का उल्लेख किया है। कवि कहता है कि कौरव-पाण्डवों के युद्ध की जीत का श्रेय कृष्ण ने नीति को दिया था। इसके विपरीत कवि ने जयद्रथ की गूँजती आवाज को सुना, तो उसने यह महसूस किया कि जैसे जयद्रथ कृष्ण की भर्त्सना करते हुए उनसे कह रहा हो कि कृष्ण मायावी प्रवञ्चक थे, जिन्होंने बादलों से सूर्य को ढँककर उसे अस्त हुआ बना दिया था और ऐसी ही छलना की वजह से युद्ध अभिशाप हो गया। और शायद इसीलिए इतिहास वह नहीं हो सका, जो उसे इस छलना के न होने पर हो जाना था। बहुत स्पष्ट शब्दों में कवि ने निष्कर्ष यह निकाला कि तभी से महायुद्ध भी वैसा ही चरित्रहीन हो चुका है, जैसा चरित्रहीन आदमी हो चुका है और इस युग तक आते-आते महायुद्ध भी, जब भी, जहाँ भी और जितनी बार हुए, केवल निर्वीर्य व्यक्ति के चालाक शौक होकर रह गये, और उसी का परिणाम है कि आज तक आदमी ऐसे चालाक शौक से हो रहे चरित्रहीन महायुद्धों का दण्ड भोग रहा है। यही नहीं, वह ऐसे महायुद्धों के प्रणेताओं को आज तक सुरक्षित बैठे हुए, आदमियों को कोसते हुए देखता है और उनका यह कोसना उसे खटक जाता है; क्योंकि वह इस राजनीति को भली प्रकार से जानता है कि इसके खेलने वाले अपनी गलतियों को तो ताक पर रख देते हैं और गलत परिणामों का सारा दायित्व आम आदमियों पर थोप देते हैं। इसीलिए यह कवि इस ओर भी इशारा करता है कि कितने सुरक्षित होकर रह रहे हैं ये राजनेता कि उन्हें भ्रष्ट तक कह सकने की हिम्मत नहीं कर सकता कोई।

पारम्परिक निर्वाह का जीवन इस सदी के इस सन् तक आकर ऐसा कुछ हो गया है कि आदमी गहरे घायल होकर भी नहीं मर पाता और यह समझते हुए कि जिन्दगी का हर क्षण अर्थवन्त होता है, जिन्दगी के अर्थ की तलाश में भटकता रह जाता है और अन्ततोगत्वा उसको यह अनुभूति होती है कि जिन्दगी तो निरर्थक सिद्ध हो गयी। इसीलिए तो ऐसे जीवन को जीते हुए भी आदमी आदमी नहीं रह जाता और वह इस हद तक अपनी मानवीयता खो बैठता है कि वह हल्दी की गाँठ होकर रह जाता है। तभी तो कवि, देश का यह विशाल कैनवास देखकर, कह उठता है कि यहाँ के सब लोग भेड़ें और केवल रक्त-माँस की सामग्री हैं। दूसरे शब्दों में कवि, देश की जनता को, प्राचीन संस्कारों को जीते-जीते मात्र पशु बन जाते देखता है, जिनमें मानवीय चेतना का कोई भी लक्षण उसे नहीं दिखायी देता। कवि का यह कथन वस्तुस्थिति को अतिरञ्जित अवश्य करता है, लेकिन आम जनता की आम मनोदशा को ठीक ही व्यक्त करता है। जनता भीड़ हो गयी है और इस भीड़ को न तो अपने अधिकारों का पता है—न अपने दायित्वों का पता है—न उसमें मानवीयता की ओर चलने की कोई ललक है।

इसी बात को कवि ने व्यक्ति-व्यक्ति के आज के रूप की अपनी 'दिशाओं के बहाने' (पृष्ठ 50) नामक कविता में और भी मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त किया है। और यह कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसके पैर गायब हैं और हाथ निष्क्रिय हैं और उसका शरीर ढुलका हुआ है और उसका दिमाग बोझ बन गया है,

जिसे वह ढोता है। इस कविता का यह अंश आज के बेबस आदमी की लाचारी का सटीक उल्लेख करता है।

अपनी 'नियति' (पृष्ठ 52) शीर्षक कविता में फिर कवि ने उपर्युक्त बात को दूसरे तरीके से कहा है। वह कहता है : जबकि आज की व्यवस्था में सभी लोग, अपने को, एक क्रम में धीरे-धीरे मार रहे हैं, तो ऐसी दशा में कानून का आत्महत्याओं पर रोक लगाना अथवा इन्सानों को जेलों मे बन्द कर देना फिजूल लगता है। कवि ने इस कविता का शीर्षक 'नियति' दिया है। कविता बात तो कहती है, लेकिन कानून शब्द के मात्र प्रयोग से आज की सरकार का वह चरित्र उद्घाटित नहीं होता, जो ऐसी व्यवस्था बनाये हुए है कि आम आदमी उसी पुराने जीर्ण-शीर्ण सामाजिक ढाँचे में मरने-खपने के लिए विवश है और अगर वह उस व्यवस्था को किसी तरह से क्षति पहुँचाता है, तो उसे कानून के शिकञ्जे में जकड़ लिया जाता है। इस कविता में चाहे सुरक्षा के भाव से हो, चाहे शब्दों की किफायतशारी की वजह से हो, कवि ने सरकार को पीछे छोड़ दिया है और उसके लिए एक अमूर्त्त शब्द 'कानून' मात्र का प्रयोग कर दिया है।

अपनी कविता 'ये लोग' (पृष्ठ 45) में कवि ने देश के हर दूसरे मकान में ऐसे लोग देखे हैं, जो अपनी परिभाषा तक से अवगत नहीं रखे गये और वे उस दशा में रह रहे हैं, जिस दशा में उन्हें जीने और मरने में फर्क ही नहीं मालूम होता। और सबसे बड़ा मजाक तो यह है कि उन्हीं की जिन्दगी से जुआ खेलने वाला, उनका प्रतिनिधि, जुए के खिलाफ नारा तो लगाता है, लेकिन जुआ कभी भी बन्द नहीं होता और बराबर चलता ही रहता है। इसके बावजूद आदमी चुपचाप सब-कुछ देखता-सुनता-समझता रहता है और अपनी पहचान नहीं खोता। इसी पहचान न खोने की बात को कवि ने अपनी 'परिचित वह' (पृष्ठ 53) शीर्षक कविता में व्यक्त किया है। कविता छोटी है, लेकिन चुपचाप मरते-खपते आदमियों की बात कहती है, इसलिए सार्थक हो गयी है। अपनी 'व्यवस्थापकों को बीच' (पृष्ठ 54) वाली कविता में कवि ने अपने व्यक्तिवादी स्वर में जो बात कही है, वह बात केवल उसी की अनुभूति को नहीं व्यक्त करती, वरन् आज के आम आदमियों की अनुभूति को भी व्यक्त करती है। कवि ने अपने को लाश कहा है और देश की इस व्यवस्था को कुबड़ा घोड़ा कहा है और वह घोड़ा उस लाश को रौंदता रहता है। यह कविता एक ओर तो देश की कुबड़ी राजनीति पर चोट करती है, तो दूसरी ओर व्यक्ति की असमर्थता पर भी तिलमिलाती है और खीझकर यह कह उठती है कि आदमी को इन दलबदलुओं के झण्डे कब तक इसी प्रकार ढोते रहना पड़ेगा; और मरा हुआ असह्य जीवन भोगते रहना पड़ेगा।

कवि आम आदमी की अभिशप्त मन:स्थितियों से पूरी तरह से परिचित हुआ है और उसने उन्हें अभिव्यक्ति देने की बात का समर्थन भी किया है। यह समर्थन उसकी 'अपने लिए' (पृष्ठ 55) और 'संकेतों के बीच' (पृष्ठ 56) वाली कविताओं में व्यक्त हुआ है। 'अपने लिए' वाली कविता में उसके समर्थन का स्वर रोमाण्टिक हो गया है। यह भी कह सकते हैं कि वह स्वर गांधीवादी स्वर हो गया है, क्योंकि वह, इस

कविता की शुरुआत ही, यह कहकर के करता है कि इन बर्छियों को चुभी रहने दो और न निकालो, क्योंकि बर्छियों के निकालते वक्त दर्द और भी तेज हो जाता है, यदि इसे राजनीति की भाषा में समझें, तो इस कहने का अर्थ यही होगा कि कवि वर्त्तमान यथास्थिति को भोगते रहने का समर्थन करता है और उसके प्रतिरोध में पुकार नहीं लगाना चाहता। तभी तो वह आगे की पंक्तियों में टूट-टूटकर और मर-मरकर भी भीतर-ही-भीतर अपने दर्द को पी जाने की कामना करता है और इस कामना से वह उस रहस्य को पा जाना चाहता है, जो व्यक्ति की निजी सीमाओं में उसे एक निजी दस्तावेज की तरह प्राप्त हो जाता है। वह 'रहस्य' आत्महनन का लिखा हुआ निजी दस्तावेज भले ही हो, लेकिन वह आज के आदमी के जीवन का जीवन्त दस्तावेज कदापि नहीं हो सकता। कवि ऐसे जीने और दर्द पीते रहने की विवशता को सामान्य जीवन जीने से अधिक महत्त्वपूर्ण कहता है। यह रुझान किसी तरह से भी तर्कसंगत नहीं कही जा सकती। अभिव्यक्त कर सकने की लालसा जो आज के आदमी में अब तक बरकरार है, उसकी वकालत कवि ने अपनी कविता 'संकेतों के बीच' में की है; जबकि वह कह उठा है कि अधकटी जबानों पर कर्फ्यू लगा है, और समय लावारिस बच्चे-सा फालतू हो गया है या कि वह बहुत दूर तक जादू की सुरंग-सा चला गया है और एक खौफनाक सन्देह गोद में अँधेरा बनकर सो गया है। इन दोनों कविताओं में कड़ुआहट और तीखापन है, लेकिन यह दोनों बौद्धिक होकर भावना के स्तर पर आम आदमी को छू नहीं सकेगी। लेकिन एक दूसरी कविता है 'वक्त भीतर' (पृष्ठ 58)। यह इन दोनों से अधिक मर्मस्पर्शी तरीके से देश की दयनीय व्यवस्था को व्यञ्जित करती है और साथ-ही-साथ आदमी की करुण दशा की बात कहती है कि हर एक आदमी के शरीर में एक दुर्घटनाग्रस्त लाश है। दुर्घटनाग्रस्त से इशारा है कि आदमी के अन्दर का प्राणी दूसरे के द्वारा कुचलकर मार डाला गया है और वह चिथड़े-चिथड़े माँस-पात्र होकर रह गया है और उसकी हड्डियाँ खून में डूब गयी हैं। दूसरे स्टैंजा में कवि ने आदमी के उस एहसास को व्यक्त किया है जो उसे अपने अन्दर छिपी लाश को छिपाये रखने और उस लाश को बहलाये रखने में समय को बहुत ज्यादा बर्बाद करना पड़ता है। क्योंकि हर एक आदमी अपने अन्दर तक पहुँचकर अपने को नहीं देख पाता और वह ऊपर की सतही जीवन की लहलहाती लहर को देखकर मुग्ध होता रहता है। आदमी को देर से इस बात की अनुभूति होती है कि वह अनुभवहीन होकर बिना आगा-पीछा सोचे आगे कूद गया था और परिणाम यह हुआ था कि वह कीचड़ से सन गया था और पीला हो चुका था। इतने संकट के बाद उसे एहसास होता है कि वह जिन्दा है और यह जो उसने अन्दर लाश हो जाने के रूप में देर से प्राप्त किया है, वह उसके शरीर से निश्चय ही बड़ा है।

लेकिन इस एहसास के बाद भी कहीं सन्नाटा दिखता है, तो कही शोर; और दोनों स्थितियों में कवि यह नहीं समझ पाता कि वह स्वयं को कहाँ अभिव्यक्त करे। उसे अनभिव्यक्ति की यातना पीड़ित करती है, तो वह महसूस करता है कि तभी से उसके

भीतर एक फूल दम तोड़ रहा है। और तभी वह यह भी महसूस करता है कि उसके बहुत पहले के लगाये कुछ पौधे झाड़-झंखाड़ बन गये हैं, फिर भी वह उन्हें काट डालने का साहस नहीं कर पाता, क्योंकि फिजूल-सी उभरी टहनी उसकी आँखों में चुभ चुकी है और उसका जी यह भी चाहा है कि उसकी कमीज से अटकी टहनी को वह जड़ से उखाड़ फेंके। यह मनोदशाएँ वही मनोदशाएँ हैं, जिनको आज के बहुत-से आदमी भोगते रहते हैं, फिर भी वे उन अवरोधों को, जिन्हें उन्होंने खुद जीवन जीने के क्रम में, जाने-अनजाने रूप से, खड़ा कर लिया है, हटा नहीं पाते और बार-बार विचार कर भी और उनकी निरर्थकता को समझकर भी उनसे छुटकारा नहीं पाते और लगातार दैनिक जीवन को पूर्ववत् जीते चले जाते हैं और उन्हें बर्दाश्त करते रहते हैं। इसी मानसिकता की कविता है 'मेरा फूल : मेरे पौधे' (पृष्ठ 22)। इस मनोदशा के पीछे शायद वही मनोवृत्ति कवि के मन में भी काम कर रही होती है, जो दूसरे तमाम लोगों के जीवन में काम करती रहती है। और जो किसी व्यक्ति को अपने अतीत से जुड़े अस्तित्व को ही चिपकाये रहने के लिए विवश बनाये रहती है; क्योंकि ऐसे आदमियों की राजनैतिक समझ ने उन्हें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लैस नहीं किया और उन्हें इस बात से अवगत नहीं कराया कि जो अवरोध है और कष्टप्रद है, उसे जीवन से निकाल देने में ही आदमी की सार्थकता है। और शायद इसीलिए कवि ने अपनी दूसरी कविता 'प्रतीक्षा' (पृष्ठ 20) में यह तर्क भी अपने लिए प्रस्तुत किया है कि ऐसा माहौल, अजनबी ही सही, लेकिन वह उसे कहाँ तोड़े और उन लोगों से सम्बन्ध कैसे विच्छेद करे, जो उसे अपने लगते हैं। कवि यह बखूबी जानता है कि लोग पथराये हाथोंवाले हो गये हैं और उन हाथों के रिश्ते ऐसे हो गये हैं कि वह बेकार हो गये हैं, कि न तो उन हाथों में घास उगने की सम्भावना शेष रह गयी है और न उन रिश्तों से किसी हरियाली की सम्भावना है। ऐसी स्थिति में भी कवि मर्माहत होकर उस व्यवस्था के प्रति आक्रोशित नहीं हुआ, बल्कि उसने सिर्फ यह कहकर सन्तोष कर लिया कि भविष्य में शायद लोग वह दिन तलाश कर सकेंगे, जब वह फिर से रिश्तों के बीच बोयेंगे यानी आज के लोगों के पथराये हाथ और उन हाथों के रिश्ते अपनी जड़त्व त्याग देंगे और इस योग्य बन सकेंगे कि उनसे बीज अंकुरित हो सकेंगे। यही नहीं, कवि का यह सन्तोष एक दूसरा रूप भी ले लेता है और वह रूप यह है कि आइन्दा आज के रास्तों के नाम भले ही न बदलें, लेकिन उनके अर्थ बदले जायेंगे। सन्तुष्टि की यह प्रवृत्ति कवि में ही नहीं, आज के तमाम लोगों में पायी जाती है और पायी इसीलिए जाती है कि लगभग सभी लोग यथास्थिति की राजनीति में रहते हुए कुछ भी ऐसा नहीं करना चाहते कि उनकी मानसिकता में विस्फोट हो और वह यथास्थिति वाली राजनीति को तोड़कर, उसके घेरे से निकलकर, आन्दोलनकारी रूप को साकार कर सकें। 'शहर : एक जंगल' (पृष्ठ 16) में ऐसी सहनशीलता की मनोदशा का एक सामूहिक रूप प्रकट हुआ है। इस कविता में कवि ने शहर को ढाँचा (Super structure) नहीं माना, बल्कि उसे जंगल की संज्ञा दी है और इस संज्ञा देने के पीछे उसने यह तर्क अपनी इस कविता में प्रस्तुत किया है कि जैसे जंगल में आदिम जरूरतों

की वजह से आने-जाने वाली छोटी-सँकरी पगडण्डियाँ फोड़ ली जाती हैं, जो उन जरूरतों के पूरी हो जाने पर फिर वहाँ बरकरार नहीं रह जातीं, वैसे ही शहर में भी आज की जरूरतों को पूरा करने के लिए छोटे-मोटे रास्ते निकाल लिए जाते हैं और वे रास्ते भी जरूरत पूरी हो जाने के बाद फिर वहाँ कायम नहीं रह जाते। मालूम होता है कि कवि शहर के आज के उस जीवन से अवगत हुआ है, जो वहाँ के निवासी जी रहे हैं और उनका वह जीना उसी हद तक होता है कि उनकी आदिम आवश्यकताएँ (यानी मूल मानवीय भौतिक जरूरतें) किसी तरह, किसी तौर-तरीके से, पूरी होती रहें और जब वे पूरी हो जाएँ, तो वे तौर-तरीके भी कायम नहीं रहते। इस शहरी जीवन की चरम परिणति यहाँ तक पहुँचती है कि आदमी भी एक-दूसरे की पहचान खो देता है, जैसे जंगल के हर-एक पेड़ एक-दूसरे की पहचान खो रहे होते हैं और पहचान खोने का नतीजा यह होता है कि आदमी शहर के हिस्से में पहुँचकर भी यह नहीं महसूस कर पाता कि पहले भी वह वहाँ हो आया है। आज के शहरी जीवन की यह तस्वीर लोगों के मानसिक एहसास की तस्वीर है, जिसे वह निरन्तर महसूस करते रहते हैं, फिर भी शहरी जिन्दगी को बदलने की कोई कोशिश नहीं करते।

कवि ने अपनी कविता 'दूसरे किनारे से' (पृष्ठ 18) में यह कहा है कि आज की स्थितियों के प्रति सन्देह तो होता है, लेकिन इस सन्देह के बावजूद भी जो जीवन-यात्रा की जाती है, वह उल्टी ही यात्रा होती है और ऐसी यात्रा से किसी हित की सम्भावना नहीं होती और यह यात्रा केवल तथ्य प्रस्तुत करके समाप्त हो जाती है। हर यात्रा के अन्त के बाद फिर शुरुआत खोजने की साजिश चल पड़ती है, लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकलता, लोग काम शुरू करते हैं। नतीजा उल्टा होता है और फिर दूसरा काम शुरू करते हैं और फिर परिणाम उल्टा होता है। यही क्रम चलता रहता है। आजकल देखा जाय, तो हमारे देश के अधिकांश लोग ऐसी ही उल्टी यात्राएँ करते-करते मरते-खपते रहते हैं और यह कहने के लिए मजबूर हो जाते हैं कि अगर उन्होंने लोक-जीवन, लीक-लीक पर चलकर, जिया होता तो वह चौराहों के बीच सूली पर न टँगे होते; बल्कि यही होता कि वह किसी-न-किसी खूँटे से बँधे होते। मतलब यह कि बात सविशेष रूप से उन व्यक्तियों के लिए कही गयी है, जो आज के जीवन को जीने में कुछ नया करने की ठान ठाने हुए आगे बढ़ने का उपक्रम करते रहते हैं, लेकिन उनका वह उपक्रम उनको सही लक्ष्य तक नही पहुँचा पाता। यही तो स्थिति आज के तमाम लोगों की है, जो यथार्थ के भीतर बैठकर उसकी वैज्ञानिक परीक्षा नहीं कर पाते और ऊपर-ऊपर ही उसको जीते हुए भटकते रहते हैं और निरन्तर सत्य तक नहीं पहुँच पाते।

'गुमशुदा आदमी की कविता' (पृष्ठ 23) में कवि ने शहर में अपनी अस्मिता की तलाश करने की कोशिश की और उसने शहर को अपना बनाने का जोखिम उठाया। लेकिन वह शहर में अस्मिता तो न खोज सका, बल्कि उसे शहर के मक्कार प्रतिनिधियों पर आक्रोश हुआ और उसे यह महसूस हुआ कि शहर सबेरा करने का

स्वाँग करता है जैसे कि कोई मुर्गा बाँग लगा रहा हो, लेकिन सबेरा नहीं होता और शहर में आया आदमी-वह-कब्र में पहुँच गया महसूस करता है। उसे यह भी मालूम पड़ता है, जैसे उसके हाथ-पैर काट दिये गये हैं, यानी न वह कुछ कर सकता है– न आगे बढ़ सकता है, बल्कि उसे हर वक्त शरीर में गहरे गड़े दाँत की पीड़ा सताती रहती है। शहर की इस यातना से पीड़ित कवि को अपने गाँव की याद आती है, तो उसे वह भी तबाह दिखायी देता है, क्योंकि वहाँ भी शहर का प्रभाव पहुँच चुका होता है। कृत्रिम शहरी चालाक मुस्कुराहटें उसे बराबर मिलती हैं और वह लगातार खुदगर्जी के आगे पिटते रहने का अभ्यस्त बना दिया जाता है और वह ऐसी मुस्कुराहट करना फिर भी नहीं सीख पाता। अन्त में उसे यह आत्मबोध होता है कि वह इस हदतक सबसे कट चुका है कि उसके लिए अब किसी से जुड़ना नामुमकिन हो गया है; क्योंकि वह शहरी बनने की तरकीब नहीं अपना सका और अन्त में तो वह खीझकर, शहरी नेता को देखकर, कह भी उठता है कि वह कितना ढोंगी और बनावटी है कि उसको अकेली ऊँचाई पर पहुँचकर अभिनय करना ही आता है न कि दूसरे आदमियों की कोई परवाह करना। शहर में ऐसे ही नकली नेताओं को आदमी का मसीहा माना जाता है। यह विडम्बना इस कविता की तलाश है और इसी विडम्बना को कवि ने गुमशुदा आदमी की कविता कहा है।

तटस्थता और उदासीनता और अहंबद्धता का जो परिणाम आज के आदमी को भोगना होता है, वही परिणाम कवि ने भी भोगा है और तभी 'एक शोकगीत' (पृष्ठ 33) में कवि की संकीर्ण मानसिकता बिम्बित हुई है। यह शोकगीत नहीं मृत्युगीत है। इस कविता में दायित्वहीनता का चरित्र व्यक्त हुआ है–जैसे कि आज का अहंवादी कोई कवि, वैयक्तिक भोगे जीवन को सबकुछ समझता है और उसी को अपना सत्य मानता है। वह दायित्वहीनता इतनी क्रूर और निर्मम हो जाती है कि लाशों पर लाशें गिरती रहने का जोखिम भी बर्दाश्त करने की जड़ता पैदा कर देती है। यह दायित्वहीनता ही निष्क्रिय और अकर्मण्य व्यक्ति की पतनशील दायित्वहीनता है। तभी तो इस तरह का दायित्वहीन बोधवाला व्यक्ति इस बात की बाट जोहने के लिए विवश बना रहता है कि एक-न-एक दिन इन्हीं लाशों के ढेर से कोई प्रेम जन्मेगा और फिर इस पीढ़ी की नपुंसकता का प्रश्नचिह्न लगायेगा और तब सत्य आजाद होगा और स्वायत्त होगा। सत्य के विषय में कवि की यह धारणा नितान्त गलत है। कोई एक व्यक्ति सत्य की अवतारणा नहीं कर सका। सत्य तो आदमी के निरन्तर श्रमशील कर्मठ जीवन से क्रम-क्रम से उपलब्ध होता है, जिसे उपलब्ध करने में एक नहीं, अनेक मानवीय पीढ़ियाँ लग जाती हैं और तब जाकर वह मानवीय प्रगति को साकार करने में योग देता है। सत्य को कोई प्रेत नहीं प्रेषित कर सकता।

एक दूसरी कविता है 'शब्द मेरा : मैं' (पृष्ठ 34)। इस कविता में कवि ने शब्द की विस्फोटक शक्ति की बात कही है और उसी बात को उभारने के लिए उसने यह भी कहा है कि उसका शब्द किसी झुरमुट में छिपे प्रेमियों का एकान्त नहीं है और नहीं है

वह किसी के उल्लास का मजाक और किसी के सपनों की झूठी नींद। इसके विपरीत कवि कहता है कि उसका शब्द संघर्ष है, जो नदी के समान है, जो पहाड़ से टकराती हुई, बिखरती-बढ़ती हुई सैकड़ों रूप धारण कर गरजती रहती है। कवि का यह कथन अतिशयोक्ति-सा लगता है। शब्द ऐसा शक्तिशाली नहीं होता, क्योंकि इसी कविता में स्वयं कवि ने शब्द को रेत की तरह बिछा हुआ एहसास कहा है, जो हर कदम की छाप को आत्मसात् किये रहता है। यहाँ पर कवि ने शब्द की प्रतिबिम्बन-क्षमता का ही उल्लेख किया है। यह कथन शब्द की संकेत-बद्धता की ओर चला गया है और ठीक ही है। लेकिन इस कविता का अन्तिम अंश पढ़कर जब यह मालूम होता है कि कवि का शब्द उसका ही है, जो उसके रक्त से लथपथ है और उसे दु:खी दिनों की मीठी याद-सा लगता है, तो कवि का यह कथन फिर अहंवादी हो जाता है और यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते शब्द की पहले वाली विस्फोट कर सकने वाली क्षमता छूमन्तर हो जाती है। कविता का उठान संघर्षशील उठान था, लेकिन शब्द की संघर्षशील नदी अपने गन्तव्य पर पहुँचकर, कविता की समाप्ति पर, केवल वैयक्तिक मीठी याद बनकर रह गयी है। यदि देखा जाय, तो यह वही मानसिकता है जो आज की लगभग सभी मध्यम-वर्गीय व्यक्तियों की है। ये लोग बात की बतंगड़ बनाकर बड़े-बड़े विस्फोट करने का भ्रम पाले, नारेबाजी करते, गरजते चलते हैं, लेकिन अन्तिम में सिमट-सिमटकर पुन: अपने में केन्द्रित होकर ठण्डे पड़ जाते हैं और शाब्दिक विस्फोट को लिए हुए, दुखी दिनों की मीठी याद को अनुभव करते रहते हैं। इस दृष्टिकोण से तो यह कविता ठीक लगती है कि यह आज के मध्यमवर्गीय मानसिकता के तीव्र रोष की अभिव्यक्ति को व्यक्त करती है और उस तीव्र रोष की परिणति केवल मीठी याद में हो जाती है। लेकिन इस कविता को कवि ने अपने से जोड़ा है और शब्द को अपना कहा है, इसलिए यह कविता उसकी निजी कविता हो गयी है और इसमें व्यक्त विचार उसके हो गये हैं, इसलिए इस कविता की मानसिकता को उसी की मानसिकता कहना उचित होगा और तब उसका मूल्यांकन करने में निश्चय ही यह कहा जायेगा कि वह असफल कविता है।

'एक और किनारा' (पृष्ठ 36) में कवि कब्र खोदते-खोदते, पीठ के झुक जाने पर भी, अपने हाथों से न जाने कितनी बार कितने शवों के दफना चुकने की बात कहता है। फिर भी धैर्य का पुतला बना हुआ वह आज तक कभी नहीं रो सका। उसे यह भी अनुभूति होती है कि उसकी वेदना में कभी कोई नहीं खोया और इस मनोदशा में पहुँचकर वह यह महसूस करता है कि उसे अब आखिरी कब्र, अपनी ही, खोदना है और उसमें अपने को ही दफनाना है। अपनी कब्र में अपने को दफनाने की बात कहकर कवि ने अपनी अनुभूति को मार्मिकता प्रदान की है अवश्य, लेकिन उसका यह कथन उसी की आत्महत्या की दलील के अलावा, कुछ और नहीं है। यह दलील उसने इसलिए दी कि उसके न रहने पर वह गलत परम्परा खतम हो जायेगी, जिस गलत परम्परा को वह अब तक जीता चला आ रहा है और जिस परम्परा का कोई मानव-

मूल्य नहीं है और जिसे खतम कर ही दिया जाना चाहिए। लेकिन कवि की यह धारणा नितान्त अमानुषिक धारणा है। किसी एक व्यक्ति के मर जाने से गलत परम्परा खतम नहीं होती और न उस व्यक्ति को यह कहने का कोई हक प्राप्त होता है कि वह अपने उत्तराधिकारी से यह कह सके कि मैं तो मर रहा हूँ और मेरे मरने की वजह से तुम मुक्त हो गये। गलत परम्पराएँ इस तरह नहीं तोड़ी जातीं। उनके तोड़ने के लिए एक व्यक्ति को नहीं, सारे समाज को महान् मानव-मूल्यों से प्रेरित होना पड़ता है और प्रेरित होकर उन चालू परम्पराओं के विरुद्ध रणनीति और कार्यनीति अपनानी पड़ती है। तभी परम्पराएँ विध्वन्स होती हैं और फिर परम्पराओं से पीड़ित आदमी मुक्त होते हैं और नयी प्रगतिशील दिशाओं की ओर अग्रसर होते हैं। इसलिए यह कविता केवल भावविह्वल क्षण की अनुभूति को ही व्यक्त करती है। और इसमें व्यक्त अनुभूति विवेक और विचार से लैस होकर सटीक कविता का रूप नहीं ले सकी।

'आत्म वक्तव्य' (पृष्ठ 37) में फिर दुबारा मौत का जिक्र किया गया है, लेकिन इस बार कवि ने खुले शब्दों में कहा है कि सर्द मौत मरने का चाव उसका नहीं है। सर्द विशेषण लगाकर कवि ने उस मौत की ओर इशारा किया है, जो मर गये आदमी के बाद कोई सामाजिक या राजनैतिक उथल-पुथल का कारण नहीं बन पाती। इसीलिए कवि ने इसी कविता में अपनी मौत को ऐसी मौत होने की कामना की है, जो एक भयानक दुर्घटना की तरह हो। जिसकी वजह से हवाएँ बँध जाएँ या कि मरते वक्त आक्रोश में तनी मुट्ठियाँ आकाश को तान दें और समुद्र चीख उठे—इस भावना से कि ऐसी मौत मासूम मौत थी। ऐसी मौत की कामना कवि इसलिए करता है कि ऐसे मरने से उसे उसकी जिन्दगी के वह अर्थ मिल जायेंगे, जो उसे जीवन जीते हुए नहीं मिल सके। वह समूह के लोगों से इसलिए असन्तुष्ट है कि वह लोग जरूरत से कहीं अधिक हीरोइक अन्दाज से जीते रहते हैं। इसलिए कवि ने अपनी धारणा यह बना ली है कि वह खुद से लड़ाई लड़ेगा। और उसे यह भी मालूम हो चुका है कि उसकी अपने से लड़ने की लड़ाई का भी कोई मूल्य दूसरों की नजर में नहीं है, सिवाय इसके कि वे उसकी लड़ाई से कोई सामाजिक उथल-पुथल न पैदा होने देने के इच्छुक हैं। तभी तो कवि उन लोगों से किसी तरह से न बच पाने पर गोली से अपने मार दिये जाने की बात कह उठता है। इस कविता में न कवि समूहवाला पथ अपनाने के लिए मैदान में उतरता है और न ही उनके साथ जीकर दिशा-परिवर्तन करना चाहता है और न ही उन लोगों के खिलाफ तनकर संघर्ष करता है, जो लोग उसकी हस्ती को बेसब्री से गोली मारकर मिटा देना चाहते हैं। पूरी कविता आत्म-स्तर पर दुस्साहसिकता का ही प्रदर्शन करती है। इसलिए यह नये युग की नयी मानसिकता की कविता नहीं है। यह केवल चौंकाने वाली आत्मप्रशस्ति की कविता कही जा सकती है। इससे कवि की अहं की तुष्टि हो सकती है, लेकिन यह किसी दूसरे व्यक्ति की कविता नहीं हो सकती।

कवि ने अपनी 'ये लोग' (पृष्ठ 45) शीर्षक कविता में फिर एक जगह आत्म-हत्या की बात कही है, लेकिन इस बार उसने आत्म-हत्या करलेने वाले लोगों पर

आश्चर्य प्रकट किया है कि लोग आत्म-हत्या कर लेते हैं, तो कैसे? और ऐसी आत्म-हत्या को उसने दूर तक बिछी थका देनेवाली सड़क को समेट लेने के समान माना है।

'चोट हथौड़े की' (पृष्ठ 44) कविता में मेहनत-मजूरी करनेवाले आदमियों की जिन्दगी का रूपांकन हुआ है। कवि ने उन्हें रोज मरते-खपते देखा है। और यह भी जाना है कि न तो उनको कोई जमीन मिलती है, न आकाश मिलता है, और वे सिर पर काले बालों के पहाड़ ढोते रहते हैं और झुककर चलते रहते हैं। वे ही कभी ईंट-से टूटते हैं, तो कभी बाँध-से बँध जाते हैं, कभी रोड़ी-से पिसकर तारकोल-से बिछ जाते हैं। इन लोगों को यह भी पता नहीं चलता कि इनके पैर में कुसी गाड़ दी गयी है और उनके नंगे पाँव से खून बह रहा है। यहाँ तक तो ऐसे लोगों का सटीक काव्यात्मक चित्रण कवि ने किया है, लेकिन फिर उसकी चेतना वहीं पहुँच गयी है, जहाँ मृत्यु की बात फिर उठ खड़ी हुई है। और इस बार कवि ने अपने इस एहसास को इस कविता में व्यक्त कर दिया है कि ये लोग पूरी तरह से मरने से पहले जग उठेंगे यानी अपने अधिकारों के लिए संघर्षशील होकर नया जीवन प्राप्त करेंगे। ऐसा एहसास हुआ, यह तो बड़ी अच्छी बात हुई, लेकिन इस एहसास को कवि ने इनके जागने की नियति मान लिया है और इसी नियति से वह सन्तुष्ट हो गया है। ठीक है कि यह सोचा जाय कि ये लोग लुहार के हथौड़े-सा, पूरी शक्ति से, एक ही वार करके अपना जागरण प्राप्त कर लेंगे, लेकिन यह शुभ-कामना इस कविता में काव्यात्मक और कलात्मक रूप नहीं पा सकी, इसलिए यह कविता कमजोर हो गयी है।

'गलत समय की हार' (पृष्ठ 47) में एक बार फिर कवि ने मुर्दाघर में रहते हुए और जीते हुए आदमी से यह कहा है कि तुम्हारा मरना अनिवार्य है और अब यह वही समय है, जब तुम मुक्त हो सकते हो और पैरों को नयी जमीन दे सकते हो। क्योंकि एक पूरी जमात फिर से साँस लेने लगी है और हवा ने रुख बदल दिया है और तुम्हारी दीवालों को गिरना है। कवि ने ऐसे आदमियों के मर जाने की शहादत को उनकी हार नहीं माना है, बल्कि उसने उसे हमारे आज के गलत समय की हार मान लिया है। सच बात तो यह है कि आदमी ही हारता है, आदमी ही समय को गलत बनाता है और वही जीत हासिल करता है और वही समय को अपने अनुकूल बनाता है। इसलिए वह कविता भी सही मानसिकता की कविता नहीं कही जा सकती।

उस सभ्यता को कवि ने मरी हुई सभ्यता कहा है, जिसे भोगते-भोगते लोग धब्बे बन गये हैं। वक्त के आवरण पर, यही नहीं, उसे यह कहने के लिए विवश होना पड़ा है कि लोग भेड़ें हो गये हैं, जो महज रक्त-माँस की सामग्री हैं। कवि को यह बात भी पैने तौर से चुभ गयी है कि लोगों का, जिन्दगी का मोह इस सीमा की ओर संक्रमण कर गया है कि वह मोह भी मौत होकर रह गया है। दूसरे शब्दों में कवि ने इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि आदमी भीतर तक घायल होकर भी इसलिए नहीं मर पाता कि जिन्दगी का हर क्षण अर्थ रखता है, जिसे खोजते-खोजते जिन्दगी ही बेमतलब हो जाती है। इस अनुभूति का प्रभाव तो कवि के हृदय पर ठीक ही पड़ा, लेकिन वह

इस प्रभाव को वैज्ञानिक और समाजवादी दृष्टिकोण से संसार में हो रहे मानवीय विकास-क्रम की ओर नहीं ले गया, बल्कि इस प्रभाव को उसने आदिमयुगीन जीवन जीने की लालसा से जोड़ दिया है। उसने यह नहीं सोचा कि विडम्बनाओं में जीते हुए लोग उनसे अब भी छुटकारा नहीं पा सकते, भले ही वह आज के जीवन से पीड़ित और पराजित हो रहे हों। यही एक कमजोरी है जो इस कविता में है। इस कमजोरी के अलावा कविता आज के लोगों की जड़ होती जा रही मानसिकता को सार्थक शब्दों में व्यक्त करती है।

'वश के बाहर' एक बहुत छोटी कविता है। लेकिन इसकी छुटाई कवि की उस मानसिकता को व्यक्त करती है, जो उसने आज का जीवन जीते हुए अपने लिए और दूसरों के लिए बनायी है। कविता में पुल डगमगाता है और कवि सम्हलने के लिए चेतावनी देता है। लेकिन चेतावनी देते हुए यह भी कह उठता है कि इस पार से उस पार जाने के लिए पुल की जरूरत रहती है भले ही वह पुल सन्देहों का पुल हो। इसका मतलब यह हुआ कि कवि सन्देहों की सार्थकता को स्वीकार करता है और यह बी प्रच्छन्न रूप से मानता है कि सन्देहों को लिए-लिए भी आदमी गन्तव्य पर पहुँच सकता है। यही नहीं, कवि को सन्देहों के पुल के डगमगाने से एक प्रकार का झटका भी लगा है। और वह झटका उसे इसलिए लगा है, क्योंकि चालाकी और सजगता से और सतर्क रहने के प्रयास से ही इस पुल के डगमगाने का भय उत्पन्न हुआ है। कवि की यह मानसिक स्थिति विवेकशील नहीं समझी जा सकती। इसी कविता में कवि और आगे बढ़ता है, तो लिखता है कि पुल एक ऊँचाई पाकर खड़ा हुआ था, उसकी बदौलत आर-पार के लोगों से सम्पर्क की सम्भावना तो बनी थी। और वे एक-दूसरे से बात कर सकते थे। जब पुल टूट जाता है तब कवि को मार्मिक आघात पहुँचता है और वह नदी की भयंकर चौड़ाई को देखता है, तो देखते ही रह जाता है। और अन्त में विवश होकर टीस के साथ यह कहकर सन्तोष कर लेता है कि सच के लिए कामना करते-करते हुए भी आदमी न उससे जुड़ता है—न टूटता है। यह सन्तोष परिस्थिति की विषमता उद्घाटित करने के बजाय उसपर मानवीय स्वीकृति का आवरण डाल देता है। और उसका परिणाम यह होता है कि इन विषम परिस्थितियों से उबरना आदमी के वश की बात नहीं होती और उसे पहले से चले आये बने-बनाये सन्देहों से भरी जिन्दगी को ही जीते रहना होता है। इसलिए मैं इसे हताशा की कविता कहता हूँ।

'सिरेहीन रेखाएँ' एक ऐसी कविता है, जो उस व्यक्ति की मानसिकता को व्यक्त करती है, जो आज अपने आस-पास के जीवन को और उसके घटनाक्रम को कतई नहीं समझ पाता। यह स्थिति तभी आती है, जब व्यक्ति के पास कोई दार्शनिक जीवन-दृष्टि नहीं होती और वह चक्कर में पड़ा रह जाता है।

अपनी कविता 'कमजोर क्षण' में कवि ने राजनैतिक जीवन को लेते हुए यह कहा है कि युग के मसीहा को जो यह ज्ञान हुआ है कि जिन्दगी नक्शा नहीं होती, वरन् वह बहुत-कुछ अकेली यात्रा है और उस यात्रा से कुछ समाधान नहीं होता, बल्कि सब-

कुछ से गुजरना ही होता है। यह कविता निश्चय ही दुर्बल मानव के दुर्बल क्षण की कविता है, जिसे यह नहीं ज्ञात कि आदमी ही अपने परिवेश और अपने युग को अपने हित में बदल सकता है और वही सुख और समृद्धि को प्राप्त कर सकता है। यह कविता भी खाते-पीते सुविधा-भोगी मध्यवर्गीय लोगों की मानसिकता की कविता कही जा सकती है।

'गन्ध की तलाश' नाम की कविता उस मानसिकता को व्यक्त करती है, जो उमड़ रहे जोर-शोर से बढ़ रहे झकझोरते जन-प्रवाह की सार्थकता समझती है। यह जन-प्रवाह की सीमाओं को तोड़ेगा और गन्ध को पहचानेगा, जो इस बात की सूचक होगी कि परिस्थितियों में पड़कर ही आदमी अलग-थलग हो जाते हैं और उनमें कोई आपसी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं रह जाता। कवि इस बात से भी अवगत है कि हो सकता है कि यह जन-प्रवाह अपने सही लक्ष्य की ओर न पहुँचे और उसे प्रायश्चित्त करने की नौबत आ जाये। कवि प्रायश्चित्त करने की स्थिति को जायज समझता है और उसके औचित्य का तर्क यह देता है कि ऐसा जन-प्रवाह भूले-भटके हुए लोगों को पहचान तो सकेगा। यही पहचानना इस कविता में गन्ध की तलाश बन गया है। यह कविता जन-प्रवाह से अवगत कराती है। यही इसकी अच्छाई है। कमजोरी इसकी यह है कि यह उस मानसिकता की कविता नहीं हो सकी, जो अपने आस-पास की तमाम परिस्थितियों का आकलन कर लेती है और फिर सही समझ की अवगमता प्राप्त कराती है।

'बीच राह का प्रश्न' शीर्षक कविता में कवि ने उस मानसिकता को व्यक्त किया है, जो उस व्यक्ति की है, जो लड़ना नहीं चाहता, टूटना नहीं चाहता, आदर्शों के खेल से लड़ना नहीं चाहता और यह भी जानता है कि कुदाली हाथ में ले लेना तो आसान है, लेकिन खोदना आसान नहीं है। इसलिए वह ऐसी राह की तलाश में है, जो लड़ाई किये बिना ही मिल जाये और जिन पर चलने में कोई खरोंच भी न आये। वह स्वयं ऐसी ही राह पर चलकर अपना निर्णय प्राप्त करना चाहता है और इसी की वकालत करता है। इस कविता को युवा भीरुता की कविता कहा जा सकता है। इसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की माँग की कविता भी कहा जा सकता है। इसे जनवादी जीवन के निर्णय की कविता नहीं कहा जा सकता।

'उत्तराधिकारी के नाम' की कविता में कवि ने उत्तराधिकारी से यह कहा है कि वह उसके पीछे-पीछे न चले, उस सड़क पर जिसपर वह चलता आ रहा है; क्योंकि वह सड़क स्वार्थों की सड़क है और उत्तराधिकारी कहीं उन स्वार्थों को, अपना भी कर्त्तव्य समझकर न अपना ले। यह कविता वही बात कहती है जो अज्ञेय अपनी एक कविता में कभी पहले 'कल्पना' के अंक में कह चुके हैं। 'बोध' नाम की कविता भी कोई विशेष नहीं है। कवि इसमें सिर्फ युग-देवता से क्षमा माँगने की बात कहता है, क्योंकि कवि उस देवता के प्रति अनास्था प्रकट कर रहा है। और इस क्षमा माँगने का तर्क वह यह देता है कि उसने युग-राक्षस को जीतकर जीना सीख लिया है; जिसकी

वजह से वह आत्महत्याओं की शृंखला की कड़ी नहीं बन सका। यह एक शुभ लक्षण है। लेकिन इस कविता में कथ्य का वह परिवेश नहीं है, जिस परिवेश से कवि ने संघर्ष करके जीना सीखा है। यही इस कविता की कमी है।

मैं 'अपनी-सी मृत्यु के बाद' शीर्षकवाली कविता को समझ नहीं पाया। शायद कवि ने इसमें यह कहा हो कि उसने दूसरे के सामने हाथ जोड़कर सिर झुकाने की मुद्रा में नमस्कार किया था। क्योंकि उसने पहली बार ही अपने को इन्सानों के बीच पाया था। इसी मुद्रा को उसने हर्ष की अनुभूति कहकर व्यक्त किया है। इसीलिए उसे यह भी अनुभूति हुई कि वह अपना बोझ खुद नहीं ढो रहा था। (बल्कि वह दूसरों के साथ जीवन का बोझ ढोने में रत हो गया था)। इसे एक व्यक्तिगत क्षण की छोटी-सी अनुभूति की कविता कहा जा सकता है, जो हल्का प्रभाव छोड़कर चली जाती है।

'संवेदना के विरुद्ध' शीर्षक कविता में–तथाकथित आरोपित लबादे को उतार फेंक कर हवा की आजादी महसूस करने की अनुभूति को व्यक्त करनेवाली इस कविता में– आज के मनुष्य की, उसे तोड़नेवाली, शक्ति का भी जिक्र है। यह आज के युवा शक्ति की दिशा और दृष्टि को व्यक्त करती है। तभी तो कवि ने उसमें, कविता के शुरू में ही, कह दिया है कि अब हँसी से विश्वासघात नही होता। यह आज के युग की विभीषिका है कि सड़क का हर एक आदमी ऐसा जीवन जीता है, जिसे हँसी के साथ विश्वासघात करना कहा जा सकता है।

'खत' नाम की अपनी कविता में कवि ने भाषणी नेता से प्रश्न किया है कि उसके भाषण से और गड़गड़ाती तालियों से जो नया रिश्ता बनाने का प्रयास किया जा रहा है, क्या वह पेट की भूख और बाप और बूढ़ी माँ की बीमारी को मिटा देगा? वह कहता है कि वह अपने घर पर भी हर साल झण्डा चढ़ाता है, मगर वहाँ सिर्फ उसी की बीबी और बच्चे होते हैं और वह कोई भाषण नहीं करता, लेकिन इसपर भी उस वक्त वह अपने को अधिक बूढ़ा और बेसहारा महसूस करता है। ऐसी दशा में ही वह नेता पर व्यंग्य के तीर चलाकर उससे पूछता है कि वह बताये अपनी हँसी और तन्दुरुस्ती का रहस्य। और फिर दुबारा पूछ बैठता है कि क्या उसकी पत्नी और बच्चों को इस सब ताम-झाम से कोई राहत मिलेगी न? और अन्त में वह खीझकर यह कहने के लिए विवश हो जाता है कि सब ठीक है और यही क्या कम है कि फिलहाल शरीर के कुछ हिस्से ढँके हैं और जीने को हवा मिल रही है। अन्त में नेता से कोई उत्तर न पाकर कवि शिष्टाचारवश कह पड़ता है कि नेता जी आप चिन्ता न करें। भगवान् आपको सुखी रखें। यह सारी कविता एक पत्र के रूप में नेता को लिखी गयी है। इसीलिए यह पत्र नेता की शुभकामना के साथ समाप्त होता है। बड़ी अजीब-सी लगती है यह कविता। नेता तो बड़े चालाक होते हैं भला उनपर उस 'खत' का क्या असर पड़ेगा? असल में इस कविता को नेता की दैनिक जिन्दगी के दाँव-पेंच और करिश्मों को जनवाद के हित में, विस्तार से उभारना चाहिए था। यहाँ ऐसा नहीं किया गया। इसलिए कविता हल्की हो गयी है।

'राह पर' वाली कविता में युवा हृदय की परिवर्त्तनकारी लालसा की अभिव्यक्ति हुई है। कवि कहता है कि उसके हाथ में मशाल दी जाय, क्योंकि उसे अन्धकार को मिटाने के लिए यात्रा का आरम्भ करना है। वैयक्तिक बोध की यह आवाज निस्सन्देह आज के सचेत युवक की आवाज हो सकती है, लेकिन यह आवाज, मशाल के माध्यम मात्र को अपनाकर, वक्तव्य मात्र होकर रह गयी है।

'प्रश्नों के बीच' का पहला स्टैंजा संवेदनशील है और इसमें लम्बे अँधेरे के बाद के किसी उजले स्पाट को देखकर जो बात ललक से कही गयी है, वह हृदय को छूती है। इस अँधेरे में आदमी चलता है, घाटियाँ चुप पड़ी रहती हैं। सब-कुछ तहखाने में डम्प कर दिया गया जैसा होता है। एक काला दानव लुका-छिपी खेलता-सा उतरता चला जाता है और वह उजाले का स्पाट वहीं-का-वहीं पड़ा रहता है और अँधेरा गहरा होता हुआ यही प्रश्न बार-बार उठाता रहता है कि आदमी अँधेरे में क्यों चलता है? कवि इस चलने को युग की तलाश की संज्ञा देता है और उसमें अपने मूल्य के खोजने की मजबूरी देखता है और बार-बार अँधेरे को फौब्बारे की तरह फूट-फूट पड़ते देखता है और हर तरफ से अँधेरे में ही घिरा हुआ रह जाता है और उसे वह उजला स्पाट नहीं मिल पाता। यह युग की तलाश वाली बात और अपना मानवीय मूल्य प्राप्त कर सकने की अदम्य लालसा से प्रेरित होकर उज्ज्वल भविष्य की ओर चलते चले जाने की आकांक्षा का अत्यन्त सटीक और नया प्रतिबिम्बन हुआ है, इसलिए यह कविता मार्मिक हो गयी है।

'इससे पहले कि शहर पत्थर हो जाये' शीर्षक कविता में शहर की आज की स्थिति को 'डिह्यूमैनाइज्ड' करनेवाली स्थिति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस अमानवीय होने की अभिव्यक्ति शायद कवि को पहले-पहल हुई है। इसी को उसने, शहर में जीते रहने के लिए, मजबूरी से स्वीकार किया है। और इसीलिए इस अमानवीय स्थिति से वह तब छुटकारा पाता है, जब वह अपने-आपको, पेड़ों और ऋतुओं के बीच रखता है और अपने अन्तरंग में उन्हें देखता है। तभी वह फिर से आदमी होने का एहसास पाता है।

'सूरज मिल गया था' नाम की कविता आदमी की उस मनोदशा का चित्रण करती है, जब वह अँधेरे में खो गये आदमियों के लिए आसमान में उड़ता-फिरता था कि उसे सूरज मिल जाये तो वह उसे हवा में घोल दे कि लोग अँधेरे से उजाले में आ जायँ। उसे सूरज नहीं मिलता। फिर भी वह लोगों की तलाश में घूमता रह गया था। यह संघर्षशील व्यक्तित्व की दायित्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। लेकिन इसके विरोध में आदमी की उस मनोदशा का चित्रण किया गया है, जब उसे सूरज मिल जाता है, तो वह अपना पहलेवाला दायित्व भूल जाता है और स्वयं अपने पंख की तह से दुबककर खो जाता है। वह उड़ना भी बन्द कर देता है। यह आज के उन व्यक्तियों पर चोट करती है, जो पहले तो लोगों की अगुवाई करते हैं, लेकिन जब महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँच जाते हैं, तो

सबको भूल जाते हैं और स्वयं में समाहित होकर दायित्वहीन हो जाते हैं। कविता अच्छी है।

'मौसम और उमस' नाम की कविता में आज की यथास्थिति को जी रहे लोगों का वह जीवन व्यक्त हुआ है, जो महज बिना जाने जिया जा रहा है। यह एहसासों की दुनिया से दूर का चुपचाप ज्यों-का-त्यों बना-बनाया जीवन जीने की स्थिति को प्रकट करता है। ऐसे ही जिये जा रहे जीवन में हँसी नियन्त्रित हो जाती है और स्वर सधे-से निकलते हैं। ऐसे जीवन में वह उमंग नहीं रहती, जो उमड़ते बादलों को देखकर पैदा होती है और ताजी फसलों को लहलहाते-नाचते देखकर उछाह से भर देती है। ऐसे जीवन के लिए कवि ने मौसम को जिम्मेदार ठहराया है। यह मौसम कोई और नहीं आज की राजनीति का प्रतीक है, जिसमें लोग असमय ही प्रौढ़ हो जाते हैं और वह यह भी नहीं जानते कि वे कहाँ हैं और क्यों उदास हैं। इस राजनीति को कैसे बदला जाय, यह ज्ञान भी लोगों में नहीं रहता। और वे यही चाहते रहते हैं कि इस राजनीति को कोई वैसे ही बदल दे, जैसे कोई मौसम-मापक यन्त्र की सुई घुमाकर मौसम को बदल देता है। दूसरे शब्दों में इस बात का अर्थ यही निकलता है कि लोग अब स्वयं अपने को हर प्रकार से असमर्थ समझते हैं और वे जीवन बदल सकने का सारा दायित्व किसी दूसरे को दे देते हैं। यह सत्य पूर्णसत्य नहीं है, क्योंकि आज भी देश के अनेकों लोग इस मौजूदा राजनीति को बदलने के लिए बहुत-कुछ कर रहे हैं और राजनीति भी डगमगा रही है। इस कविता की अर्थवत्ता इसी बात में है कि यह ऐसे जी रहे लोगों को यह एहसास करने के लिए प्रेरित करती है कि वह अपनी मौजूदा स्थिति को देखकर अपना भविष्य बनाने के लिए कुछ करें।

'शहर : एक परिचित' नाम की कविता में परिचित शहर की समसामयिक स्थिति का काव्यमय परिचय दिया गया है। इसमें कम में भी कहकर, उतने से ही आधुनिकता के संत्रास को बिम्बित किया गया है। इस शहर में आम और खास दोनों ही प्रकार के लोग इसका निर्मम जीवन जीने के लिए बाध्य दिखते हैं। शहर वैसे तो सभ्यताओं की नुमाइश दिखता है, लेकिन वास्तव में अजायबघर के ही समान है। ऐसे अजायबघर को देखकर कवि को कहना पड़ा कि यहाँ तो आकस्मिक आग की सम्भावनाएँ हो सकती हैं, क्योंकि शहर में जीने लायक जीवन का अभाव है। सभी लोग इस शहर में आश्वासनों की लाशें ढोते मिलते हैं और वे सभी दयनीय लगते हैं। यहाँ सभी के भीतर एक विचित्र-सा नंगापन छटपटाता दिखाई देता है। यहाँ सभी एक-दूसरे के हाथों बिके हुए हैं और सभी अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए मौके की तलाश में रहते हैं। इस शहर की हवा में सभी अपनी-अपनी तरह से अपने-अपने निर्णय देते रहते हैं और समस्याओं पर बहसों पर बहसें करते रहते हैं। उधर स्वार्थ-साधक लोग (तथाकथित दैत्य) अपना जोर आजमाते रहते हैं। यहसब चलता रहता है शहर में चारों ओर। लेकिन यह सब-कुछ उस विवेक की खुली आँख से छिपा नहीं रहता और वह आँख चुपचाप सब-कुछ देखते-देखते नितान्त अकेलेपन में, अंगारे की तरह बुझ-जैसी जाती है कि ठण्डी होकर

इससब हो रहे दृश्य के भीतर गहरे पैठकर सत्य को बूझे और इस शहरी नाटक का सही-सही अर्थबोध प्राप्त करे। यह कविता भी एहसास तो पैदा करती है, लेकिन आदमी में वह बोध नहीं उत्पन्न करती, जिसकी उसको जरूरत है, इसलिए इसे पढ़कर भी आदमी अपने एहसासों का बन्दी बना रह जाता है। उसे कैदखाने से निकलने का वह रास्ता नहीं मिलता जो मौजूदा राजनीति को पलटकर वास्तव में देश का समाजवादी कायाकल्प कर सके।

'रास्ते के बीच : एक आधुनिक आदमी' नाम की यह लम्बी कविता देश के आज के जीवन को बिम्बित करती है। यह जीवन भ्रम और भुलावे से भरा हुआ है। यह जीवन अनेक प्रकार से रिक्त और उत्पीड़ित है। इस जीवन की विसंगतियों को देखकर आदमी जीने के लिए विवश है। इसीलिए देश की आज की जीर्ण-शीर्ण व्यवस्था में ही लोग-बाग सड़ते-गलते रहते हैं। यही उनकी नियति बन गयी है। युवा मानसिकता भी आत्मपीड़न, परपीड़न, परिवेश-पीड़न और अविवेक-पीड़न से ग्रस्त मानसिकता है, जो बौद्धिकता के स्तर पर और भावनात्मकता के स्तर पर भी स्वयं को ही संत्रस्त भोगती है और आदमी की स्वस्थ मानसिकता हो सकने में विफल ही बनी रहती है। इस मानसिकता का उद्धार नजर नहीं आता। देशवासियों की आँखें हमेशा दूर क्षितिज पर अटकी रहती हैं और वह क्षितिज देशवासियों के जीवन में आ ही नहीं पाता। इसी ऐसे चल रहे देश के राजनीतिक चक्र को देखकर कवि ने बड़ी मार्मिकता से कविता के अन्त में बड़ी सटीक बात कही है कि ऐसा लगता है कि जैसे ''कहीं पर कोई रथ का पहिया सड़कों को लपेटता चला जाता है।'' दूसरे शब्दों में सड़कें वही पुरानी हैं, उन्हीं पर राजनीति का रथ चलता है। न तो कोई नयी सड़कें हैं, न तो कोई नया रथ। सब-कुछ वही-वही घिसा-पिटा है। गति का भान तो होता है, लेकिन वह गति बनी-बनायी सड़कों को लपेटने में ही व्यक्त होती है। यह सशक्त कविता है और इसी के नाम पर इस काव्य-संकलन का नामकरण हुआ है।

अन्त में दो-चार बातें और कहूँगा। यथार्थ का बिम्बन कविताओं में हो, यह कवि से अपेक्षा रखता है कि वह यथार्थ को ज्यों-का-त्यों काव्य-पंक्तियों में व्यक्त न करे, बल्कि उसकी अपनी वह मानसिकता देकर व्यक्त करे, जिसे उसने समाजवादी वैज्ञानिक जीवन-दर्शन से बनाया है, ताकि कविता में यथार्थ का अन्धकार और संत्रास को भेदने की दृष्टि और दिशा भी मिले और आदमी उसे पढ़कर आदमी से जुड़े, अपनी ओर उसका अजनवीपन तोड़े और सही संज्ञान से सारगर्भित सत्य को रूपायित करने में अपना सक्रिय सहयोग देता चले। दिविक रमेश इस लक्ष्य को पा सकेंगे, इस संकलन से ऐसा आभासित होता है।

❐

अमृतराय के उपन्यास 'बीज' का विवेचन

सन् बयालिस से सन् बावन का समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं का समय रहा है। 'बीज' में इन घटनाओं का समावेश हुआ है, यह उसकी विशेषता है। इसीलिए हिन्दी-साहित्य के उपन्यास-क्षेत्र में 'बीज' का प्रकाशन भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है।

'बीज' से पूर्व, इस दशक में, अनेकों नये उपन्यास प्रकाशित हुए। इनमें, न्यूनाधिक मात्रा में, जीवन का समकालीन स्वरूप व्यक्त अवश्य हुआ, किन्तु वह ऐसा नहीं था, जिससे जीवन के निर्दिष्ट प्रवाह का पता लगे और पाठक यह जान सकें कि ये घटनाएँ उसे और उसके देश को किस ओर लिए जा रही हैं इन उपन्यासों की यही सबसे बड़ी दुर्बलता थी, जिसके कारण वे देश और जनता को प्रेरणा और स्फूर्ति नहीं दे सके। इनके विपरीत, 'बीज' की यही बसे बड़ी विशेषता है कि उसकी कथावस्तु से जीवन के निर्दिष्ट प्रवाह का पता चलता है और पाठक यह जान जाता है कि ये घटनाएँ उसे और उसके देश को किस ओर लिए जा रही हैं। इसीलिए 'बीज' देश और जनता को प्रेरणा और स्फूर्ति देनेवाला है।

सत्य (सत्यवान) और उषा की कथा-वस्तु ही इस उपन्यास की मुख्य कथा-वस्तु है। इससे सम्बन्धित राजेश्वरी और महेन्द्र की कहानी, वीरेन्द्र और प्रमिला की कहानी, अमूल्य-प्रफुल्ल और उनके कुटुम्बियों की कहानी, और अन्यान्य पात्रों की सत्ताएँ मुख्य कथा-वस्तु को ही विकास की सीमा तक ले जाकर उसका पूर्णतया प्रस्फुटन करती हैं। यदि इस उपन्यास से सत्य और उषा को निकाल दिया जाय, तो राजेश्वरी और महेन्द्र से सम्बन्धित कथानक का कोई मूल्य नहीं रह जाता और उनसे किसी भी कथा-साहित्य को गौरव नहीं मिल सकता। इसलिए यह कहना अन्यायपूर्ण होगा कि राज और महेन्द्र का कथानक भी 'बीज' की मुख्य कथा-वस्तु है। यह सच है कि राजेश्वरी और महेन्द्र इस उपन्यास का एक बहुत बड़ा अंश अपने जीवन से घेरे लेते हैं, किन्तु इस कारण वे उपन्यास के मुख्यपात्र नहीं हो सकते। उनकी कहानी तो ऐसे दो व्यक्तियों की कहानी है, जो अपना सुधार नहीं कर सकते, वरन् एक-दूसरे के विनाश का कारण बनते हैं। राज तो उस जर्जर जीवन की प्रतीक है, जो सत्य को अपनाकर अपनी वैयक्तिक उत्कट अभिलाषा की पूर्ति चाहती है, और उससे अधिक कुछ नहीं चाहती। राज न देश से प्रभावित होती है, न बंगाल के अकाल से, न प्रदर्शनी से। वह पुरुष की शक्ति बनकर नहीं, उसकी तुष्टि बनकर, रहना चाहती है। महेन्द्र भी उसी जीर्ण समाज-व्यवस्था का अत्यन्त नीच पुरुष है, जो पापाचार में लिप्त रहकर अनेकों

कुमारियों के अछूते यौवन को कलुषित करता है और अन्त में राज को गर्भवती कर उसकी हत्या करता है। कलंक का यह कथानक हमारे समाज का कथानक है और जहाँ हमारे समाज का यथार्थवादी वर्णन हो रहा हो, वहाँ उस उपन्यास में, इस कथानक का होना अनिवार्य ही है। इसी वजह से राज और मेहन्द्र 'बीज' में लाये गये हैं। वे कलंक को उभारकर कलंक से घृणा पैदा करते हैं और सत्य और उषा के नव-जीवन में सौष्ठव, बल, साहस और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करते हैं।

क्या यह सम्भव है कि आज के समाज से राज और महेन्द्र को निकाल दिया जाय और सत्य और उषा को, बिना उनके गढ़ लिया जाय? नहीं।

जिस समाज में महेन्द्र है, उसी समाज में सत्य की सम्भावना है। जिस समाज में राज है, उसी में उषा की सम्भावना है। सत्य संघर्ष करता है, उषा को कर्म-क्षेत्र में लाकर राजनीति का अंग बना देता है, ताकि महेन्द्र और राज फिर न जन्में और देश को कलंकित न करें।

सत्य को नये जीवन-दर्शन की जरूरत थी, तभी तो वह वीरेन्द्र के सम्पर्क में आया और उसको जीवन की महत्ता का पूरा-पूरा आभास हुआ। जेल में पहुँचकर उसके भ्रम टूटे और उसने अति समीप से देखा कि कम्युनिस्ट कोई हौआ नहीं, वरन् कर्मठ आदमी है, जो युग-परिवर्त्तन की सही दिशा को वखूबी समझता है। उसके प्रभाव को अपनाकर ही वह पार्टी के प्रति आकृष्ट हुआ, ताकि नवीन-दर्शन अपना काम कर सके। इसीलिए वीरेन्द्र और उसकी पार्टी का निरूपण भी इस उपन्यास का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है, जितना स्वयं सत्य और उषा का निरूपण। लेकिन वीरेन्द्र और उसकी पार्टी की कहानी भी इस उपन्यास की मुख्य कथावस्तु नहीं है। यदि कोई यह कहने का साहस करे कि अमृतराय ने सत्य और उषा के बहाने अपने कम्युनिस्ट विचारों की कहानी ही प्रमुख रूप से इस उपन्यास में कही है, तो वह भी तर्क-संगत न होगा। वीरेन्द्र का जीवन और प्रमिला का चरित्र इस उपन्यास के मुख्य कथानक को आगे विकास की ओर अवश्य ले जाते हैं, परन्तु स्वयं उपन्यास नहीं बन जाते। यदि वीरेन्द्र न होता, तो सत्य भी अपनी पूर्व दुर्बलताओं के प्रवाह में उसी तरह बहता रहता, जैसे महेन्द्र बहता रहा है। उषा भी वैसे ही जीवन-यापन करती, जैसे राज करती थी। अतएव इस उपन्यास का ध्येय सत्य और उषा का चरित्र-चित्रण करना है और उसके विकास के लिए ही इस उपन्यास में वीरेन्द्र और प्रमिला का स्थान है।

इसमें शक नहीं कि वीरेन्द्र और प्रमिला की कहानी बहुत ही सबल रूप से पूरे आकार-प्रकार के साथ इस उपन्यास में व्यक्त हुई है, और वह प्रमुख स्थान लेती-सी जान पड़ती है; परन्तु इतना होते हुए भी, वह स्वयं उपन्यास नहीं बनने पायी। अमृतराय ने एक सफल उपन्यासकार की भाँति अपने उपन्यास की मुख्य कथावस्तु को अन्य लघु-कथाओं के विस्तार से दबने नहीं दिया, यही कमाल है। यदि सत्य का चित्रण गौणरूप ले लेता और वह फीका, अस्पष्ट और कृत्रिम हो जाता, तो अवश्य ही यह उपन्यास न होकर कम्युनिज्म प्रचार का एक साधान-मात्र होता। कन्युनिज्म का प्रचार इस उपन्यास में है, लेकिन यह सोद्देश्य है और अपनी सीमा-रूपों के अन्तर्गत है।

वह सत्य का विकास करता है और सत्य उषा का और दोनों इस उपन्यास का। इसमें भी शक नहीं कि वीरेन्द्र का चित्रण अमृतराय की कलम की अमूल्य साहित्यिक देन है और वैसा जानदार वर्णन न सत्य का हुआ है, न उषा का। फिर भी वीरेन्द्र के उस अनुपम शब्द-चित्रण से ही तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह उपन्यास का प्रमुख पात्र बन गया है और सत्य खो गया है। यदि वीरेन्द्र का इतना सजीव व्यक्तित्व अमृतराय न दिखाते, तो सम्भव था कि सत्य उसकी ओर आकृष्ट ही न होता,और स्वयं अपने निर्माण को पूरा न कर सकता। वास्तविकता तो यह है कि सत्य उस वीरेन्द्र को एक आदर्श व्यक्तित्व के प्रकाश-स्तम्भ के रूप में ही ग्रहण करता है, जो उसकी जीवन-यात्रा को सही मार्ग पर ले चलने की किरणें देता है।

सत्य की कहानी एक साधारण प्राणी की कहानी है। सत्य कोई जन्मजात महापुरुष नहीं है, और न वह धन-कुबेर अथवा बना-बनाया नेता है, जिसके लिए इतने पृष्ठों का उपन्यास भी छोटा होता। वह तो उन व्यक्तियों में से एक है, जिसके निर्माण की जिम्मेदारी न तो देश के नेता लेने को तैयार हैं, न पैसे के ठेकेदार—कोई बिड़ला इत्यादि। वह स्वयं संघर्ष करता है। बी० ए० में ट्यूशन करके पढ़ता है। विदेशी उपन्यासों का अनुवाद करता है और कुछ-न-कुछ कमा लेता है। उसे देश से प्रेम है। अपने कामों के संसर्ग में आकर 'अहिंसा' की राजनीति की असलियत जान गया था। वह सन् बयालिस में जेल जाता है। वहीं वीरेन्द्र से परिचय होता है। वहीं वह यह जान सका कि कम्युनिस्टों ने सन्' 42 में कांग्रेस का साथ क्यों नहीं दिया। वहाँ से वह राजनीतिक समझ लेकर बाहर आता है और फिर कम्युनिस्ट पार्टी की ओर खिंचता है और अकाल पीड़ितों के सहायतार्थ वैराइटी शो की योजना करता है। इसके बाद वह सोवियत प्रदर्शनी करने में दत्त-चित्त होकर योग देता है। उषा के सम्पर्क में आता है। मन की दुर्बलताएँ उभरती हैं, जैसी कि राज के प्रति पहले थीं और लखनऊ पहुँचने पर फिर जोर के साथ प्रकट हुईं। फिर उषा के साथ ब्याह होता है। वह नौकरी करता है, 'लीडर' में सब-एडीटरी की। घर-गृहस्थी का उदास जीवन मन को मारने लगता है। उत्साह क्षीण होता है। पति-पत्नी में कड़ुवाहट आती है। फिर माँ से अलग होता है। उसकी मनोदशा वही थी, जो हरेक की होती है कि माँ से अलग भी नहीं हुआ जाता और बिना अलग हुए काम भी नहीं बनता। उषा की कोख से अरुण का जन्म होता है। नौकर-चाकर की समस्या उठ खड़ी होती है, आर्थिक कठिनाइयाँ परेशान कर देती हैं। उसे उषा को रात-दिन पिसते देख 'औरत की गुलामी का शहीद एहसास' हुआ। आस-पास के सुन्दर जीवन को लेकर पति-पत्नी में कहा-सुनी शुरू होती है। अमूल्य के घर तलाश होती है। वह गिरफ्तार होता है। मीटिंग होती है, पार्क में। फिर राजनीतिक संघर्ष चलता है। जेल में लाठीचार्ज होता है। अमूल्य घायल होता है। उसके पिता प्रफुल्ल भाषण देते हैं। जेल जाते हैं। फिर सत्य नौकरी से निकाल दिया जाता है। क्योंकि उसकी एक्टीविटीज जनरल मैनेजर को पसन्द नहीं है और वह सियासी है। उषा भी पढ़ाने की नौकरी करती है। सत्य पकड़ा जाता है। ठीक उसी दिन जिस दिन उषा को नौकरी मिलती है। पार्टी की रात्रि-पाठशाला में भी उषा पढ़ाने लगी। वह

जीवन के यथार्थ रूप को देखती है। हरिजन बस्ती उसकी आँखें खोलती हैं। दरिद्रता का चित्र साकार हो उठता है। मेहतरों की हड़ताल शुरू होती है। उषा नेतृत्व करती है। वह घायल होती है और जब घर आकर उसकी आँखें दूसरे दिन खुलती हैं, तो सत्य को पास ही देखती है, क्योंकि वह रिहा कर दिया गया है। गिरफ्तारी का कानून ही अवैधानिक था।

इन्हीं उपर्युक्त घटनाओं को लेकर 'बीज' लिखा गया है। सत्य और उषा का जीवन इन्हीं घटनाओं से निर्मित हुआ है और इनके निरूपण में अमृतराय ने काफी पैनी कलम से यथार्थ और उसके समस्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं को स्पष्ट रूप से चित्रांकित किया है। इन घटनाओं का महत्त्व केवल सत्य और उषा के जीवन में ही नहीं है, वरन् इनका स्थायी महत्त्व देश के प्रत्येक निवासी के जीवन में है। इसीलिए इस उपन्यास में सत्य और उषा का यह जीवन व्यक्त करना अत्यन्त महत्त्व रखता है। इस महत्त्व से इनकार करना इस दशक के जीवन से इनकार करना होता और इसका चित्रण न करना अमृतराय की असफलता होती। साथ ही साहित्य में इस दशक का जीवन अपने वास्तविक रूप में प्रवेश न कर पाता। 'बीज' ने सत्य और उषा की कहानी देकर हमारे देश और जनसाधारण के जीवन की कहानी दी है।

यथार्थ का निरूपण भी इस उपन्यास में बड़े शिष्ट और संयत रूप में हुआ है। वासना के वे स्थल, जिनके वर्णन में सहज ही लेखनी मान-मर्यादा खो बैठती है, इस उपन्यास में स्थान पाकर भी लेखनी को अमर्यादित नहीं कर सके। चाहे वह राज और सत्य के शारीरिक आकर्षण की मनोदशाओं का वर्णन हो, चाहे वह महेन्द्र और राज के वासनामय सम्बन्ध का वर्णन हो, अथवा वह प्रमिला के गत कुत्सित जीवन के उद्‌घाटन का चित्रण हो, अमृतराय की लेखनी ने विकृत और वर्जित पथ का कहीं भी अनुसरण नहीं किया। एक भी ऐसा वर्णन न मिलेगा, जहाँ कुत्सित यौन-भावनाओं ने लेखनी को पराजित किया हो। यौन के सम्बन्ध में अमृतराय के विचार अत्यन्त विवेकशील हैं। यही कारण है कि 'बीज' इस दिशा में अन्य साहित्यिक उपन्यासों से अधिक सार्थक और स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

इस उपन्यास में यौन से सम्बन्धित राज का एक दूसरा ही रूप है और प्रमिला का एक दूसरा ही रूप है। राज समाज के रूढ़िवादी स्तर की नारी है, जिसका अन्त ही इस यौन के विकृत सम्बन्ध के कारण होता है। प्रमिला समाज के उस विवेकशील स्तर की नारी है, जिसका उद्धार पार्वती कृष्णमूर्ति के द्वारा होता है और यौन की विकृतता समूल नष्ट होती है। महेन्द्र तो वास्तव में यौन का हत्यारा दानव है। इसके विपरीत पार्वती-कृष्णमूर्ति यौन से उद्धार करनेवाली संयमी स्त्री, जिसके प्रति पाठक में सम्मान का उदय होना स्वाभाविक है। महेन्द्र को पाठक की घृणा ही मिलती है; और वह उसी का पूर्णतया अधिकारी भी है। प्रस्तुत उपन्यास वस्तुतः इस बात का निर्देश करता है कि प्राचीन जीर्ण समाज में नारी का अस्तित्व केवल यौन-सम्बन्धों तक ही सीमित है और केवल नये प्रगतिशील समाज में ही नारी का अस्तित्व कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कामों के लिए है।

इस उपन्यास में विवाह के विषय में भी काफी उत्तेजक विचार व्यक्त हुए हैं। राज का ब्याह पुराने ढंग से उसके पिता ने कम आयु में ही कर दिया था। वह सब प्रकार से अनमेल ब्याह था। ऐसे विवाह का अन्त अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ और राज की जीवन-कहानी इस युग की अत्यन्त दारुणिक कहानी बनकर रह गयी। सत्य ने अपना विवाह स्वयं रचाया और उसके लिए उसने उषा को तैयार किया। इसका अन्त सुखद हुआ और सत्य-उषा का पारस्परिक सम्बन्ध देश और समाज के लिए हितकर सिद्ध हुआ। प्रमिला भी वीरेन्द्र से ब्याह की बात कहती है। तब वीरेन्द्र टी० वी० का रोगी है और सैनीटोरियन में पड़ा अपने घातक रोग से लड़ रहा है। ऐसे में ब्याह की बात सिवाय मूर्खता के और क्या हो सकती थी। प्रमिला का यह सोचना कि वह एक महान् व्यक्ति से ग्राह्य होकर जीवन सफल कर लेगी, केवल निरर्थक भावावेश के अतिरिक्त कुछ नहीं था। प्रमिला की इस दुर्बलता की तीव्र आलोचना और भर्त्सना वीरेन्द्र ने सही तरीके से की। यह बात नहीं है कि वीरेन्द्र उसे न चाहता रहा हो, किन्तु उसने विवेक से काम लिया और इस विवाह को सब तरह से अनुचित करार दिया। उपन्यास का यह स्थल भी बड़ा मार्मिक है और कभी न भूलने वाला है। साथ ही यह अत्यन्त सुन्दर सन्देश भी देता है। अमृतराय ने जिन शब्दों में इसका वर्णन किया है, वह पढ़ने योग्य है।

नारी केवल पुरुष की दासी है और उसका कार्य-क्षेत्र केवल घर है, जहाँ बन्दी रहकर वह केवल बच्चे पैदा करे। इस विचार का खण्डन इस उपन्यास में सत्य ने किया है। वह उषा को देश की राजनीति में लाकर प्रतिष्ठित करता है और इसप्रकार एक क्रान्तिकारी कदम उठाकर सबके लिए पथ प्रशस्त करता है। वास्तव में घर की समस्याओं का हल वैयक्तिक तरीके से नहीं हो सकता, क्योंकि घर का सम्बन्ध सब तरह से देश की राजनीति से है और जब तक स्त्री और पुरुष उस राजनीति में हिस्सा नहीं लेते, तब तक घर का सुधरना असम्भव है। सत्य का यह विचार-दर्शन वर्त्तमान युग का विचार-दर्शन है, जिसे सबको अपनाना चाहिए।

अन्त में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि इस उपन्यास में कई कमियाँ भी हैं, जो अखर जाती हैं। एक नहीं, अनेकों बार इसमें अपशब्दों (गालियों) का प्रयोग हुआ है। यह किसी प्रकार वाञ्छनीय नहीं है। 'नंगा' शब्द तो इतनी भरमार के साथ प्रयुक्त हुआ है कि बुरा लगने लगता है। पता नहीं कि अमृतराय को यह शब्द क्यों अत्यधिक प्रिय है। फिर यहाँ-वहाँ लम्बे-लम्बे कथोपकथन का होना भी अरुचि प्रदर्शित करता है। भाषा, आदि से लेकर अन्त तक लगभग एक-सी है, जैसी कि अमृतराय स्वयं बोलते हैं। इस भाषा में भी अन्तर लाने की आवश्यकता है। भाषा की एकरसता इस उपन्यास की बहुत-सी खूबियों को मद्धिम कर देती है। कही-कहीं भाषा में परिवर्तन आया जरूर है, परन्तु वह न के बराबर आया है। दो-एक स्थलों पर तो गद्य-पद्य का ही रूप हो गया है। एक तरह से वह अच्छा भी है और खराब भी।

❐

सतरंगे पंखोंवाली

यह कोई परी या तितली नहीं। यह नागार्जुन की किताब है और किताब है कविताओं की।

इस किताब में उन्तीस कविताएँ हैं। पहली कविता का जो नाम है, वही इस किताब का नाम है। यह 'सतरंगे पंखोंवाली' कोई और नहीं है, वही 'तिहरी मुस्कान के चटकीले डैनों पर सवार' होकर आनेवाली आशीष है, जो 'बरोनियों की ड्योढ़ी' पर आकर, शरीर के भीतर पैठने में घबराती है, मगर जब कवि से आश्वासन पा लेती है कि भीतर के अभिशाप गल गये हैं, तब अन्दर पैठती है। इस पहली कविता को पढ़कर मालूम हुआ कि अभिशप्त व्यक्ति के जीवन में आशीष का आना कितना महत्त्वपूर्ण होता है। कवि ने उसको तितली के रूप में चित्रित किया है। उसकी निगाहों ने उसे बहन कह कर पुकारा है। 'पलकों की पश्मीन छतरी' का तत्काल तनना नाटकीय भावभंगिमा की अभिव्यक्ति तो करता ही है, किन्तु कवि के हृदय की तीव्र उत्सुकरता भी प्रकट करता है। सम्पूर्ण कविता अशुभ शापों की पूर्व-कथा और उनके गलने का इतिहास और आशीष के आगमन और उसके आने से उत्पन्न हुए उल्लास के वातावरण को बड़ी अच्छी तरह से व्यक्त करती है। यथार्थ की कटु भूमि पर यह वसन्त की बहार की कविता है। अमूर्त्त आशीष सुन्दरी बनकर 'पद्मगंधी मानस' में रहने लगी है और उझक-उझक कर बार-बार बाहर झाँकने लगी है।

'काले-काले भौंरे' किसने नहीं देखे। काव्य में तो इन्हें रसिक के रूप में चित्रित किया गया है। मगर नागार्जुन ने इन्हें ठीक ही गालियाँ, आक्रोश और अभिशाप का प्रतीक माना है। ओठ अधखिले कमल की पंखुरियाँ हैं। इन्हीं ओठों से गालियाँ निकलती हैं; क्रोध निकलता है; शाप निकलते हैं। यही सब भौंरे हैं। हिन्दी में यह बिल्कुल नया निरूपण है। एक नया प्रयोग है। एक नया मूर्त्त-विधान है।

'तन गयी रीढ़' भी एक अन्यतम कविता है। किसी प्रेमिका के पास आकर, उसकी हथेली का स्पर्श पाने पर उसकी गरम निराकुल साँसों से कन्धों के छू जाने पर, उनकी तैलाक्त पलकों से बिजली के दौड़ जाने पर, यह कविता लिखी गयी है। कवि ने केवल प्रभावों के द्वारा अपनी प्रेम-जन्य अनुभूतियों की स्फूर्ति और चैतन्यता को सबल शब्दों में व्यक्त किया है। रीढ़ का तनना बल और जीवन का प्रतीक है। यह सच ही है कि हारे हुए आदमी को, परेशान आदमी को, टूटे हुए व्यक्ति को ऊपर उठाने के लिए किसी का प्रेम ही पर्याप्त हो सकता है।

इसी के समपर लिखी गयी एक दूसरी कविता है–'यह तुम थीं।' यह भी बिल्कुल नवीन ढंग से प्रेम को चित्रित करती है। प्रेमिका 'जोत की फाँक' है, जो अँधेरे की छाती चीर जाती है। प्रेमिका 'छरहरी टहनी' है, जिसके पोर-पोर में टूसे गसे हैं। प्रेमिका 'भादों की तलइया' है, जो कोढ़ी गूलर को, उमड़कर छू लेती है और बौने की छाल का रेशा-रेशा शीतल हो जाता है। यहाँ प्रकृति के तीन माध्यमों से कवि ने अपनी प्रेमिका का चित्र साकार किया है। कवि स्वयं अन्धकार बना है, 'उलंग असगुन कचनार' बना है और 'कगार पर खड़ा कोढ़ी गूलर' बना है। फिर कवि ने अपनी प्रेमिका को 'जोत की फाँक', 'छरहरी टहनी' और 'भादों की तलइया' कहा है। यह एकदम सफल प्रयोग है और इस प्रयोग से प्रकृति के तीनों चित्रों में भी जान आ गयी है।

'सिन्दूर तिलकित भाल' में और 'यह दन्तुरित मुस्कान' में प्रेम की अभिव्यक्ति दूसरे ही प्रकार से की गयी है। पहली कविता में प्रिया की याद आती है, लेकिन गाँव-घर, फल-फूल, पशु-पक्षियों, साग-भाजी, वन-जनपदों की याद के साथ; और तब आती है, जब सबसे दूर कहीं परदेश में होता है। दूसरी कविता में भी प्रवासी कवि ने किसी को देखकर उससे प्रभावित होकर उसका चित्रण किया है। इस कविता में अभिव्यक्ति का तरीका 'कासकीय' हो गया है। सुन्दरी जलजात हो गयी है। इसे छूकर पाषाण पानी बन गया है। उसे छूकर शेफालिका के फूल झरने लग पड़े हैं। फिर भी दोनों कविताएँ नवीनता लिए हुए हैं और इसीलिए अच्छी बन पड़ी हैं। जिस निश्छलता और सहज भाव से यह कविताएँ लिखी गयी हैं, वह अन्यत्र कम मिलता है। 'दन्तुरित मुस्कान' का प्रयोग अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण है।

लेकिन अगर कोई यह कहे कि नागार्जुन रोमाण्टिक कवि हैं, तो यह कहना सर्वथा ठीक न होगा। यह रूढ़ अर्थ में रोमाण्टिक कतई नहीं है। व्यापक अर्थ में भले ही वह थोड़-बहुत रोमाण्टिक हों। न तो नागार्जुन में नारी के सौन्दर्य के प्रति प्रगाढ़ मदान्धता है, न नारी के सौन्दर्य-निरूपण में विलासिता है और न कामुकता, न नारी को अपनाकर सबसे विरक्ति है और न प्रकृति ही नारी के सौन्दर्य की प्रतिच्छवि है। तभी तो अपनी कविता 'जयति नखरंजिनी' में नागार्जुन तिकोने नाखूनोंवाली उँगलियों का वासक सज्जा युवतियों को देखकर भी उनकी सराहना में गुणगान नहीं करते, बल्कि उनकी परिमार्जित रुचि की भर्त्सना करते हैं और उनके नाखून पर स्याही का निशान न लगवाने पर और बिना वोट दिये ही वापस चले जाने पर उन पर और आज के फैशन पर करारी चोट करते हैं। रोमाण्टिक कवि तो इसी एक अदा पर फिदा हो जाते और बड़ी लम्बी कविता लिख मारते प्रशस्ति में। 'सौन्दर्य-प्रतियोगिता' गंगा और यमुना की मछलियों को लेकर और कछुए को समेट कर लिखी गयी है। इसमें भी आजकल की सौन्दर्य-प्रतियोगिता पर व्यंग और चोट है। मछलियों का चित्रण तो कुछ भी नहीं है। मगर कछुए के चित्रण में नागार्जुन ने कमाल ही कर दिया है। उसे ''वयस्क बुजुर्ग सुधी शिरोमणि'' की उपाधि दी है। उसकी सुन्दरता देखने लायक है :–

बिल्लौरी काँच-सी कान्तिवाला यह गर्दन....

बरगद-सी छतनार ऐसी पीठ ....

नन्हें मसूर-से ऐसे ये नेत्र .....

देखी नहीं होगी ऐसी खूबसूरती ....

नागार्जुन की लेखनी प्रकृति के चित्रण में सहज-स्वाभाविक हर्षोल्लास को भर देती है। 'वसन्त की अगवानी' में यही देखने को मिलता है। दूर से कोयल की कुहुक आ रही है। झींगुर की शहनाई पर पर्त चढ़ने लगी। बूढ़े ठूँठों की टहनियों में फूल आ गये– लाल-लाल आग जैसे। मुकुल गदरा गये। आम की बौरों पर भौंरे टूट पड़े। सहजन की तुनुक टहनियों पर मधुमक्खियों के झुण्ड-के-झुण्ड आपस में टकराने लगे और आशंका होने लगी कि कहीं सौन्दर्य-भार से और रूप-रस के आभार से वे मुरक न जायँ। गेहूँ और जौ की हरी-हरी बालियों पर मुस्कुराते हुए वसन्त का रंग आशीष की तरह छाया हुआ है। अलसी के नीले फूल खिले हैं। इन फूलों पर आसमान अपनी मुसकान फैलाये है। वसन्त का वैभव, अपने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और संगीत के साथ, इस कविता में साकार हो गया है। 'वृद्ध', 'वनस्पतियों', 'शाखाओं', 'मुखर', 'स्मित' और 'भास्वर' शब्दों के प्रयोग के साथ-ही-साथ 'पोर-पोर', 'टहनी' 'दहकने', 'टूसे', 'गदराये', 'मुरक', और 'तुनुक' शब्दों का प्रयोग भी इसमें हुआ है। इस वजह से भी वह कविता सहज ही ग्राह्य हो गयी है। ग्रामीण सौन्दर्य प्रकृति का–तत्काल छू लेता है हृदय को। लेकिन जब भारी-भरकम शब्द 'ऐसा क्या अब फिर-फिर होगा' प्रथम स्टैंजा में प्रयुक्त होते है, तब वे प्रभाव को रत्ती भर भी उत्तेजित नहीं करते। वे निगाहों के स्वभाव और गुण की अभिव्यक्ति नहीं कर पाते। यही सब 'हटे दनुजदल मिटे अमंगल' वाली कविता में भी हुआ है। बड़े-बड़े शब्द, राम के मारे निशाचरों की तरह, रणक्षेत्र में पड़े-बड़े कराहते-मिलते हैं। नागार्जुन का यह गीत इसलिए निर्जीव हो गया है। 'निरांतक यौवन' का प्रयोग अच्छा है, लेकिन 'शिर-शिर पर अमिताभ ताज' का प्रयोग अत्यन्त कुरूप है। 'कैसा लगेगा' नाम की कविता का दूसरा स्टैंजा संस्कृत-बहुल शब्दों से बना है। परन्तु इन शब्दों से मनुष्य की करनी और होनेवाले तहस-नहस का चित्रण हुआ है। इसलिए 'पद-मर्दित', 'भू-लुंठित' और 'कनक-मंजरियाँ' के प्रयोग सार्थक हो गये हैं। दो पंक्तियाँ देखिए : –

वेणु-वन ठूँठ हों, ठूँठ हों शाल-वन।

खा-खा कर आँच फटे महुवा की रग-रग॥

पहली पंक्ति में 'वेणु-वन' और 'शाल-वन' के प्रयोग से कोई जान नहीं पड़ सकी, हालाँकि उनके साथ 'ठूँठ' का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। पंक्ति निष्प्राण ही रह गयी है। दूसरी पंक्ति में 'खा-खाकर' का भोंड़ा प्रयोग भी जान डाल गया है, क्योंकि 'आँच खाना' मुहावरा है और उस आँच से महुवा के पेड़ की नस-नस के फटने की ओर इशारा है।

यह एक खास बात है कि रोमाण्टिक स्वभाव पाकर भी नागार्जुन रोमाण्टिक कविताएँ नहीं लिखते। उनके रोमाण्टिक स्वभाव का परिचय तो मिल जाता है, किन्तु यह यत्र-तत्र ही। इसका कारण है कि वह स्वभाव से युग-धर्मी भी हैं और यथार्थ-धर्मी भी। वह यथार्थ से आँखें तरेर कर आँखें मिलाते हैं और यथार्थ को पकड़कर अपनी कविताओं में उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। उनपर युग का गहरा प्रभाव है। वह जीवन को ग्रहण करते हैं और काव्य और कला को जीवन से ऊपर की चीज नहीं मानते। रोमान्स भला ऐसे व्यक्ति के पास कैसे रुक सकता है? रोमान्स छिछला भी होता है और गम्भीर भी। वैयक्तिक भी होता है और आदर्शोन्मुखी भी। छिछला रोमान्स काव्य में उत्तम रचनाओं की सृष्टि नहीं कर सकता। गम्भीर रोमान्स अवश्य ही अनेकानेक महाकाव्यों के प्रणयन का कारण बना है। वैयक्तिक रोमान्स अन्ततोगत्वा पागलपन का शिकार बना देता है। आदर्शोन्मुखी रोमान्स मनुष्य को रहस्य के नील-निलय में ले जाकर विसर्जित कर देता है। यथार्थ से नाता जोड़कर ही रोमान्स अपना ग्राह्य स्वरूप दे सकता है। जैसे-जैसे यथार्थ जोर पकड़ता है, वैसे-वैसे रोमान्स क्षीण-से-क्षीणतर होता जाता है। नागार्जुन के इस संग्रह में भरपूर यथार्थ का निरूपण हुआ है। वैसे तो लगभग अधिकांश कविताओं में यथार्थ और व्यंग के छींटे मिलेंगे, मगर कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं, जो आद्यन्त यथार्थ और व्यंग से भरी-पूरी हैं।

'देखना ओ गंगा मइया' में उन बच्चों के विषय में कहा गया है, जो रेल के पुल के नीचे गंगा जी के जल में फेंके गये पैसों को अपने काम लाने के लिए निकालते हैं। कवि ने सहानुभूति के साथ गंगा जी से इन बच्चों को निराश न करने की अपील की है। कवि ने बच्चों की ओर से उनकी जरूरतों की लिस्ट भी पेश की है। वे जरूरतें पूरी होनी चाहिए, कवि का यही कहना है। अभाव का जीवन जीने लायक नहीं होता।

'खुरदरे पैर' गट्ठों वाले कुलिस-कठोर पैरवाले रिक्शेवाले को देखकर लिखी गयी कविता है। वे पैर कवि की दूधिया निगाहों में खूब गये। उसकी आँखों से वे पैर टकराते हैं। उन पैरों की याद बराबर बनी रही। जीवन-यापन में रत परिश्रमी रिक्शेवाले के प्रति यह कविता प्रशस्ति में भले ही न लिखी गयी हो, फिर भी यह एक तीक्ष्ण व्यंग-शर है, जो कवि ने अपने हृदय में स्वयं चुभोकर समाज पर खूनी प्रहार किया है।

'नाकहीन मुखड़ा' शीर्षक कविता एक ऐसे व्यक्ति पर लिखी गयी है, जो जाड़े की रात में ठण्डक से ठिठुरकर गठरी बन गया है और दियासलाई से जला-जलाकर बीड़ी पीता है, और अँधेरे में डूबा है। पढ़कर करुणा उमड़ पड़ती है इस अपाहिज दीन-हीन के प्रति। 'होती बस आँखें ही आँखें' भी ऐसी ही कविता है।

'अकाल और उसके बाद' में उस घर की उस हलचल और उस खुशी का वर्णन किया गया है, जो उस घर में अनाज आने पर होती है। बड़ी चातुरी से उदासी और खुशी का चित्रण हुआ है। इस कविता में नाटकीय प्रभाव विद्यमान हैं।

'तो फिर क्या हुआ' में उस वेतनभोगी सिगारपायी कुर्सीधर आचार्य के आचार-व्यवहार और विचार का सूक्ष्य सांकेतिक अंकन हुआ है, जो गोली-काण्ड का वर्णन सुनता है, फिर भी 'महीन-मुस्कान' फेंकता हुआ बार-बार 'तो फिर क्या हुआ' कहता है। वह खुद मद्रासी सिगार पीता है और कवि को देता है गोल्डफ्लेक की डिब्बी। बातें होती रहती हैं। बात-बात में वह खुलता है और अपनी उदासीन और क्षुद्र मनोवृत्ति का परिचय देता है। जब वह स्वयं कहता है कि 'प्रलय नहीं होगा सृष्टि कैसे होगी।' वह सोवियत बाल-चन्द्र के आकाश-गमन से प्रसन्न होने के बजाय क्षुब्ध होता है और अपने लड़के के शिकागो न जा पाने की वजह से बेहद परेशान होता है और कवि से अपनी परेशानी को प्रकट करता है, तो कवि उसी के स्वर में कहता है 'तो फिर क्या हुआ?' स्वार्थ में डूबे हुए व्यक्ति अपनी तकलीफों को तूल देते हैं और विज्ञान के विकास के महत्त्व को अस्वीकार करते हैं। यह है हमारे शिक्षित स्वभाव का परिचायक। आचार्य 'स्टेट्समैन' अखबार पढ़ने में डूब जाते हैं और कवि उनकी दी हुई सिगरेट का धुआँ वहीं उनके इर्द-गिर्द छोड़कर चल देता है।

'यह कैसे होगा' में कवि ने अपनी मनोवृत्तियों का परिचय दिया है कि वह हो रहे निर्माण के कार्यों से दूर नहीं रह सकता। उन कार्यों का प्रभाव उसपर पड़ता है और वह अपने-आप से प्रश्न करता है और उन प्रश्नों का उत्तर न देकर अपनी स्थिति का विवेचन करता है और अपने अलस-अकर्मी जीवन की निरर्थकता से क्षोभ और विद्रोह प्रकट करता है। यही एहसास सबको हो, तब कहीं कोई निर्माण के काम में लग सकता है।

छत-फाड़ ठहाका मारनेवाली लड़की का चित्रण भी विचारोत्तेजक है।

'बहुत दिनों के बाद' कवि के ममत्व की कविता है। कवि का ममत्व है फसल से, धान कूटती किशोरियों के गीत से, मौलसिरी के ताजे-टटके फूलों से, गाँव की चन्दनवर्णी धूल से, ताल मखाना से और गन्नों से। इस कविता में रूप, गन्ध, शब्द और स्पर्श की तीव्र आसक्ति और उनके भोगने की उत्कट इच्छा है। यह सरल शब्दों में लिखी गयी हृदय की सच्ची कविता है।

'ओ जन-मन के सजग चितेरे' में कवि ने बाँदा नगर का जो चित्रण किया है, वह अमर और अद्वितीय है।

जैसे नागार्जुन का व्यक्तित्व निश्छल और प्रेरणाप्रद है, वैसे ही उनकी इस संग्रह की कविताएँ हैं।*

❐

---

* कलकत्ता से प्रकाशित उसके नवम्बर क्रान्ति अंक में छपी यह समीक्षा है। अंक 7-11-59 का था।

आकाश-कवच

'आकाश-कवच' डॉ० आशा गुप्त की रचनाओं का पहला काव्य-संकलन है। इन कविताओं के अलावा भी उन्होंने बहुत-सी और लिखी होंगी, मैं ऐसा सोचता हूँ। मेरे ऐसा सोचने का कारण है। इन कविताओं का रचाव इसकी गवाही देता है कि डॉ० आशा गुप्त की लेखनी, कोई नया काम नहीं—बल्कि पहले से कर रहे काम को ही, अधिक सचेत और सधे ढंग से कर रही है। नया कवि—अभी-अभी ही मैदान में उतरा कवि—इतनी लय-बद्धता और इतने सँवार की कविताएँ नहीं लिख सकता। उसके लिखने में कई तरह का नौसिखियापन और बचकानापन आ ही जाता है—झलक ही जाता है। यहाँ, इस संकलन की कविताओं में 'नयी कविता' का विकसित रूप मिलता है। यह हो सकता है कि डॉ० आशा गुप्त कभी-कभार ही कविता लिख लेती रही हों—जमकर न लिखती रही हों—लेकिन इसपर यदि उन्होंने 'नयी-कविता' का इतना उन्नत स्वरूप पा लिया है और सफलता से वह उसका निर्वाह अपनी रचनाओं में कर ले गयी हैं, तो यह बात ही उनके लिए बड़े गर्व और गौरव की है। इस क्षमता से उनकी समर्थ काव्य-प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है।

मैंने जान-बूझकर, खूब सोच-समझकर, प्रस्तुत संकलन की कविताओं को 'नयी कविता' के अन्तर्गत रखा है। वह न प्रयोगवाद के अन्तर्गत आती हैं—न प्रगतिवाद के। प्रयोगवाद में आतीं, तो बाहर से सिमट कर, अहं की प्रयोगधर्मी इकाई बन जातीं, न व्यक्ति की रहतीं, न समाज की रहतीं, वरन् विशेष बनकर विशेष मानस-लोक की कृतियाँ बन जातीं। प्रगतिवाद में आतीं, तो प्रतिबद्धता से अपनी चाल और चमक प्राप्त करतीं और अपनी जन्मदात्री की जीवनी-शक्ति को जन-जीवन में लगा देतीं और समाजवादी वैज्ञानिकता से लैस होकर व्यंग्य, विद्रूप और यथार्थ को शब्दांकित करतीं। इनमें कहीं कुछ ऐसा नहीं है।

डॉ० आशा गुप्त अपनी इन कविताओं को 'नयी कविता' के तहत रखती हैं या नहीं, मैं नहीं जानता? वह मेरी धारणा से सहमत होंगी या नहीं, यह भी मैं नहीं जानता। मैंने अपनी धारणा तो इन कविताओं को पढकर बनायी है।

इन कविताओं में व्यक्त चेतना तथाकथित 'जनवाद या लोकतन्त्र' में आस्था रखनेवाले और उसीको जी रहे व्यक्ति की है, जो 'समाजवादी जनवाद या लोकतन्त्र' से अपरिचित है और यह समझता है कि पूँजीवादी और साम्राज्यवादी जनवाद या लोकतन्त्र में ही वास्तविक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सुलझा रहता है न कि 'समाजवादी जनवाद या लोकतन्त्र' में। यह सही समझ नहीं है। फिर भी इस समझ को इतना

अधिक प्रचारित और प्रसारित किया गया है कि दुनिया का आम आदमी इसके चक्कर में पड़ गया है और ऐसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का हामीदार हो गया है और समाजवादी जनवाद या लोकतन्त्र से कतरा कर अलग हो गया है। परिणाम यह हुआ है कि आम लेखक, सुरक्षा के साथ जीते रहने के लिए, अ-राजनैतिक हो गया है—अपनी निजी वैयक्तिकता बनाने में संलग्न हो गया है। वह और उसकी वैयक्तिकता इसीलिए संकुचित हो गयी है और इसीलिए संकुचित वैयक्तिक चेतना का कृतित्व भी निजी मानसिकता का, निजी अनुभूतियों का, निजी परिकल्पनाओं का, निजी भीरुता का, निजी संशय का, और निजी बोध और भावों का कृतित्व हो गया है। हर एक ऐसा कृतिकार दूसरे आम आदमी की मानसिकता का कृतित्व नहीं रचता।

डॉ० आशा गुप्त की एक बहुत छोटी रचना है 'सुदी-बदी'। इसमें 'मार्गशीर्ष' अपने व्यक्त होने का एहसास मात्र देकर अव्यक्त ही बना रह जाता है। समय से पहले 'सुदी' आ तो जाती है, पर उसके आनेपर भी न मार्ग का पता चलता है न शीर्ष का। 'बदी' का पता ही नहीं चलता। पूरा-का-पूरा महीना—तीस, दिनों का यह काल-खण्ड—मानवीय चेतना की पकड़ में नहीं आता। दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो यही कहा जायगा कि यह 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' की उस परिणति का बोध कराती है, जिस परिणति में पहुँचकर मानवीय चेतना, पूर्णतया, असम्बद्धता और असम्पृक्तता स्वीकार कर चुकी होती है और समय तक को नकार देती है। यह मनःस्थिति पूँजीवादी लोकतन्त्र की देन है। इस मनः स्थिति में पहुँचकर व्यक्ति की आत्मवत्ता (Subjectivity) वस्तुवत्ता (Objectivity) से अलग हो जाती है। दोनों ही अपने-अपने छोरों पर पड़ी रहती हैं और एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करतीं। देश और काल यथावत्-के-यथावत् सरकते रहते हैं और नाश और निर्माण का द्वन्द्व होता रहता है; परन्तु आदमी—ऐसे लोकतन्त्र का हामीदार अ-राजनैतिक आदमी—ऐसे द्वन्द्व में अपनी कोई भी मानवीय भूमिका नहीं अदा करता और निरीह हुआ-हुआ जीता रहता है। इस छोटी कविता की सार्थकता इसी में है कि इतनी बड़ी बात को वह इतने कम शब्दों में व्यक्त कर देती है। न यहाँ कोई ठाठ बाँधा गया है, न कोई कलात्मक रूपाकार खड़ा किया गया है। बस, मानसिकता-ही-मानसिकता का उल्लेख मात्र है, फिर भी यह उल्लेख स्वयं इतना मोह-भंग करनेवाला है कि जो भी व्यक्ति इस कविता को पढ़ेगा, वह पूँजीवादी लोकतन्त्र से और उससे, वरदान के रूप में मिले 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' से, न सदा के लिए सही, कुछेक क्षण के लिए ही सही, अपने-आपको अलग कर लेगा। यह कविता अ-राजनैतिक मानसिकता से निर्मित सत्य-संस्पर्शी कविता है। अवगतता है, लेकिन बौद्धिक नहीं, अनुभूतिपरक अवगतता है। यह अवगतता रचना-प्रक्रिया के पूरे चक्र से नहीं चली। तत्काल की अनुभूति होकर तत्काल ही व्यक्त हो गयी है यह।

और भी कई रचनाएँ हैं, जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य से निरूपित हुई कुछ इसी प्रकार की भिन्न-भिन्न मनः स्थितियों को व्यक्त करती हैं। 'न फूल न सूरज' में घट-घट में घट रहा, घटना-क्रम, सब-का-सब, एक अनुर्वर पठार का परिदृश्य पा गया है और जीने

की मजा बीच चौराहे में उसी तरह लुट गया और बेभाव बिक गया है, जिस तरह नाचती वेश्या का यौवन। 'कहीं सुना था' में विश्वास के ध्वंस होने और सारे परिश्रम के बेमाने सिद्ध होने का तथ्य शब्दांकित हुआ है और निष्कर्ष के रूप में यह कहा गया है कि विश्वास नाम की कोई चिड़िया नहीं होती। इस नकारात्मकता का मूल स्रोत वहीं पूँजीवादी लोकतन्त्र में है। 'आदमकद', 'घाटियाँ' और 'सरे बाजार' एकाकीपन की कविताएँ हैं। 'आदमकद' में हवा का हल्का झोंका भी हथौड़े की चोट करता है और आत्म-सम्मोहन की मनोदशा को चूर-चूर करता है। दर्पण में अपनी छवि-निहारने वाला व्यक्ति अपनी छवि के असंख्य टुकड़े हुए देखता है और देखते-देखते अपने-आप को निरीह और विवश महसूस करता है। यह है लोकतन्त्री वैयक्तिकता। इस कविता के पीछे जाकर स्थिति का विश्लेषण करने पर दो-तीन तथ्य, बड़े मार्के के, उभरकर समने आते हैं। आत्म-सम्मोहन की जरूरत ऐसे ही लोकतन्त्र में होती है, जिसमें वस्तुवत्ता-सौन्दर्य शून्यता प्राप्त कर चुकी होती है और व्यक्ति को, विवश होकर, अपने ही रूप पर मुग्ध होना पड़ता है। व्यक्ति को अपने से अलग कोई सौन्दर्य नहीं दिखता। वस्तुवत्ता इतनी अनाकर्षक और निरर्थक हो चुकी होती है कि उससे व्यक्ति प्रभावित नहीं हो पाता। यदि कहीं समाजवादी लोकतन्त्र की स्थापना से अपना देश अपनी वस्तुवत्ता को निरूपित करते-करते उसे सुन्दर, आकर्षक और प्रभावशाली बना सका होता, तो ऐसी दशा में व्यक्ति का मन उस वस्तुवत्ता में रमता और उस पर रीझता न कि उससे विमुख होकर अपनी ही छवि पर न्यौछावर होता। 'घाटियाँ' नाम की कविता में यह तथ्य प्रस्तुत हुआ है कि जब कोई किसी की बात नहीं सुनता, तब व्यक्ति घाटियों में जाकर वहाँ अपनी आवाज गुँजता है, जो फिर उसी के पास लौट आती है और वह उसे लिए-लिए ही रह जाता है। यह सम्पर्क-हीनता की स्थिति है। व्यक्ति घुटन महसूस करता है। घुटन ऐसी होती है कि सब-कुछ का अन्त हो जाता है। मुक्त होकर भी मुक्त नहीं रहता व्यक्ति। वह जेल के बिना भी—जेल के बाहर होते हुए भी—दमघोंटू लोकतन्त्रीय वातावरण में न आत्मिक उन्नति कर पाता है, न भौतिक उन्नति। 'सरे बाजार' नाम की कविता उस वैयक्तिक मानसिकता की कविता है, जो गंगा के मैदान में बे मौसम गन्दा पानी के प्रवाह से और उसमें बगुलानुमा सफेद पखेरुओं के नहाते होने से और सम्पूर्ण दृश्य की निरर्थकता की अवगतता से बनी है। बुद्धि दृश्य में पैठती है और वस्तुवत्ता के अन्तरंग को थाह लेती है। मगर उसे उथलेपन का बोध होता है। न कोई सत्य पकड़ में आता है, न कोई लक्ष्य प्राप्त होता है। वहीं गंगा के तट पर चिताएँ जलायी जाती हैं। चिताएँ भी मानसिकता बनाने में सहायक होती हैं। मर्यादा-मण्डित समाज की स्मृति उभरती है। समाज की मर्यादा में जीना चिताएँ जलने के समान हो जाता है। प्रेम और प्यार के सम्बन्ध एक तो बन ही नहीं पाते और बनें भी तो टूट-टूट जाते हैं। इच्छाएँ भी पूरी नहीं हो पातीं। वह क्षीण होकर नर-कंकालों-सी हो जाती हैं। तन-मन-बुद्धि इत्यादि, तरह-तरह की तमाम फालतू उलझनों और पहेलियों से जुड़ जाते हैं। व्यक्ति ऐसे दृश्य को देखता है—भोगता नहीं है—दूर से विचार करता है। विचार से भी कुछ सार नहीं निकलता। चिन्तन की क्रिया आगे न बढ़कर प्रश्न

का रूप ले लेती है। यहाँ नि:संग बौद्धिकता केवल प्रश्नाकुल मानसिकता हो गयी है। ऐसी मानसिकता प्रेरक नहीं होती, न विश्लेषक होती है, न सहानुभूति दे सकती है, न सम्बद्धता स्थापित कर सकती है। अतएव जिज्ञासा की भूमि पर वह मात्र प्रश्न होकर खड़ी रह जाती है।

एक कविता है, 'कौन सोचे'। इसमें कहा गया है कि दुनिया के जंजाल के विविध फैले काम, निर्मम और क्षणभंगुर होते हुए भी, सार्थकता की महत्त्व की, कर्मठता की और माँग की झूठी खाल ओढ़ कर, निरन्तर भयभीत करते हैं। निग्रह को सौंप दी गयी देह की थकन, विवेक की दीवारों में बन्दी हो गये मन की जकड़, और मूकता के गह्वर में पैठ गयी वाणी की घुटन, कैसे उठे—खुले और शब्द पाये, इस सम्बन्ध में कौन सोच-विचार करे—यह समस्या समाधानरहित होकर यथावत् बरकरार रहती है। दूसरे शब्दों में इस कविता का मूल भाव यही है और इसे ही वह व्यक्त करती है कि वस्तुवत्ता और आत्मवत्ता, दोनों ही, एक-दूसरे से कटकर, एक-दूसरे को प्रतिबिम्बित करने में असमर्थ हो गयी हैं। व्यक्ति की चेतना सोच-विचार करने में लगती ही नहीं। यही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है पूँजीवादी लोकतन्त्र की व्यवस्था में और इसी स्थिति को प्रत्येक व्यक्ति भोगता रहता है। यह आज की युगीन समस्या है। इस समस्या का निदान ऐसे लोकतन्त्र की व्यवस्था के पास नहीं है। कहने को तो व्यक्ति स्वतन्त्र रहता है, परन्तु उसे, इस व्यवस्था में, भयंकर उत्पाती लहरों के सागर के बीचो-बीच छोड़ दिया जाता है, जहाँ वह ऊभ-चूभ करते-करते साँसें गिनता रहता है। इसी सारगर्भित सत्य को सीधे-सपाट शब्दों में, प्रस्तुत कविता व्यक्त करती है। इसी तरह यह सत्य इस लोकतन्त्रीय व्यवस्था में परत-दर-परत से उभर-उभर कर छलक-छलक पड़ा करता है, लेकिन इसे समझने और पकड़ने वाले कम ही लोग होते हैं। चेतना में इसके आघात तो पड़ते हैं, परन्तु उन आघातों के मर्म में छिपे सत्य को ग्रहण करने के लिए जिस समाजवादी दार्शनिक दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह व्यक्तियों के पास होती ही नहीं। इसीलिए यह सत्य उभरकर भी छद्मदेशी व्यवस्था में, अव्यक्त रह जाता है। मानवीय चेतना कुछ न सोच सकने के लिए मजबूर बनी रह जाती है। 'एक सस्ती उदास शाम' में ऐसी ही मजबूरी की वजह से 'हँसी बड़ी मँहगी हो गयी है'—'दुख बड़े सस्ते हो गये हैं'—यन्त्रणा वाराह-सी थूथन बाये निगलती-चबाती, ऊब कर उगल देती है—और 'जुगुप्सा-दृष्टियाँ मुँह फेर लेती' हैं। इस कविता में जो क्रियाएँ आयी हैं—प्रयुक्त हुई हैं, वे ही मजबूरी की सम्पूर्ण तीक्ष्णता और तिक्तता को व्यक्त करती हैं। लोकतन्त्र में जीते रहने की स्वाधीनता पाकर भी आदमी अपने उद्धार का कोई रास्ता नहीं देख पाता। लोकतन्त्रीय स्वाधीनता, व्यक्ति को एकाकीपन की अनुर्वर मनोवैज्ञानिक अन्तर्मुखी निस्संगता देकर यथास्थिति को ज्यों-का-त्यों भोगते रहने के लिए विवश रखती है और इस हद तक, छद्म और छद्म से और अवैज्ञानिक अर्द्ध-सत्यों से अच्छादित कर देती है बौद्धिकता-नकली बौद्धिकता—ही चेतना की स्थानापन्न बन जाती और वैज्ञानिक बोध और समाजवादी विवेक अस्पृहणीय हो जाते हैं।

चेतना की स्थानापन्न यह छद्म बौद्धिकता आदमी की ऐन्द्रिक अवगतता सूक्ष्म स्पन्दनों से बनती-बिगड़ती हुई जिस रचना के रचे जाने का अवसर प्रदान करती है, वह रचना उस वैयक्तिक (निजी) मन की होती है, जो इस्पात-जैसा ठोस तो मालूम होता है, लेकिन जिसे तिनके के समान हल्की छोटी बात का आघात तक हथौड़े के आघात-सा लगता है और तब उसकी आँखों का बाँध टूट जाता है और आँसुओं की भयंकर बाढ़ में वह डूबने लगता है और डूबने-डूबने में बराबर विवश सोचता रहता है कि वह किस धातु का बना है? ऐसा मन यह यही नहीं सोचता कि युगीन वस्तुवत्ता ही इसके लिए जिम्मेदार है और जबतक व्यक्ति इस वैज्ञानिक सामाजिक प्रयास से नहीं बदलेगा, तबतक वह इसी मानसिक संकट से निरन्तर त्रस्त होता रहेगा। ऐसे मन की कविता है : 'किस धातु का मन' ऐसा मन वही मन है, जो अद्‌भुत पुराने ढंग के बेड़े पर आसीन है। वह मन समुद्री लहरों के उद्वेलन में बेड़े के उतार-चढ़ाव को भोगता है और जीने-मरने की समस्या से परेशान होता रहता है। वही मन तो कहीं उतरने का स्थान न पाकर, सिमट कर व्यक्ति की आँखों में आ जाता है और (वर्तमान से विमुख) तब दूर के पुरातन क्षितिज को देखता है और तब भी युगीन वस्तुवत्तीय उद्वेलन से नहीं हारता और इस्पाती बना रहता है। पर वही मन जब किसी छोटी-सी आत्मवत्ता से अवगत होता है, तब बेहद विचलित हो जाता है और रो-रोकर आँसुओं में डूबन लगता है। निश्चय ही उसकी यह विचलता, उसकी यह कारुणिकता, उस व्यक्ति की है, जो पुरातन को– अतीत को, जी और जहान के लिए मंगलकारी समझ बैठा है और हो रहे चौमुखी शोषण और संत्रास से अनवगत स्वयं के मनोसुख को ही जीवन जीने का चरम लक्ष्य मानता है। दो प्रकार के व्यक्तियों के मनों की तुलना की जाय, तो यह बात और भी स्पष्ट होकर सामने आती है कि आत्म-सुखभोगी व्यक्ति का निजी मन दूसरों के दु:ख-दर्द से विचलित नहीं होता, वरन् अपनी ही आत्मवत्ता पर आघात आने से त्राहि-त्राहि कर उठता है। दूसरों के लिए कठोर और संवेदनशून्य हुआ यह मन उस व्यक्ति के उस मन से कितना भिन्न है, जो दूसरों के लिए मृदुल और संवेगशील हो चुका है और निजत्व की आत्मवत्ता को सामाजिक वस्तुवत्तीय अर्थवत्ता दे चुका है।

'चित्त कैसे सुप्त' में भी चेतन चित्त की बात कही गयी है। यह चेतन चित्त जड़ से भी गया बीता बताया गया है। इसपर यन्त्रों का जल पड़ता तो है, पर फिसल जाता है। सदुपदेशों की छाप भी इसपर पड़ती है, फिर भी डिगता नहीं। कृपा किरणों का अरुणिम आलोक भी यह मन स्वीकार नहीं करता अपने ही अन्दर के अन्धकार के मार्ग पर चलता चला जाता है और अपने ही निजत्व की सीमा के अभ्यासों और अपनी ही प्रवृत्तियों के किले में कैद होकर भी अपने-आप को कर्त्ता-धर्त्ता (संचालक) मान बैठने का भ्रम पाले रहता है। ऐसे तथाकथित चेतन मन को कवयित्री ने अपनी इस कविता में, ठीक ही, भावविहीन-विवेकहीन और अपरिवर्तित ठहराया है। चेतना तो ऐसे मन में सोयी ही पड़ी रहती है। वैज्ञानिक सत्य तो यह है कि आदमी की चेतना उसके क्रिया-कलाप से, द्वन्द्व से, टकराने से, यथास्थिति को तोड़ने से और ब्यष्टि से निकलकर,

समष्टि में समाहित होने से, सार्वभौमिक सत्य को पकड़ने से और सांस्कृतिक इकाई बनने से विकसित होती है। वह आदिम प्रवृत्तियों के जाल और जञ्जाल में फँसी रहकर तो पाशविक बन सकती है, न कि मानवीय।

पूँजीवादी लोकतन्त्र के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की मान्यता से जो आम मानसिकता बनती है, वह समझौता-परस्त हुए पस्त मन की देन होती है। इस मानसिकता की पहिचान होती है कि यह आशावादी होती है। इसकी आशावादिता भाग्य पर निर्भर रहती है। यह आम विश्वास है कि 'घूरे के दिन भी बहुरते हैं।' ऐसी आशावादिता सामाजिक न्याय की लड़ाई में कोई भी योगदान दे सकने में असमर्थ होती है। भाग्य के भरोसे वाली आशा मूलत: निष्क्रिय और असमर्थ होती है। 'फिर आयेगा' नाम की कविता में ऐसा ही आशावादी स्वर उभरा है। कवयित्री का कहना है कि बन्दर-बाँट से लगातार छला जाना और वह सब-कुछ,जो है, किसी अतीत की गुफा में समा जायगा और तब फिर आयेगा एक दिन। लेकिन यहाँ इस कविता में यह नहीं बताया गया कि वह दिन कैसा होगा। कैसे मान लिया जाय कि वह अच्छा ही होगा, शुभ ही होगा। वह पिछले गये दिनों की तरह भटकन और छलाव का दिन भी हो सकता है। बात स्पष्ट नहीं होती। शायद कवयित्री की चेतना में गीता की वाणी काम कर रही होती है कि धर्म की हानि होने पर भगवान् का अवतार होता है और फिर अभ्युदय होता है। यह कविता भाग्य के भरोसे (भगवान् के भरोसे) से बनी आशा की कविता है। आज के अपने देश के लोकतन्त्र में यही आशा व्याप्त दिखती है।

ऐसी ही मानसिकता की विशेषता यह भी होती है कि वह यथार्थ के विभिन्न पहलुओं से अवगत तो होती है, लेकिन उन पहलुओं को तत्काल अनवगतता में बदल देती है और कह उठती है कि जो देखा था, वह कुछ नहीं था। वह तो वायु के बनाये पानी पर बने चित्र थे, जो सूरज की किरणों से सतरंगे हुए चमक रहे थे। वह यथार्थ से पीड़ित न हुई मानसिकता है। यथार्थ तो पूर्ववत् बरकरार रहता है। यह मानसिकता उसको बदल सकने वाली मानसिकता नहीं है। यह तो यथार्थ पर रंगीन परदा डालकर उसे नकार देती है और उसके स्थान पर सतरंगी चित्रों को प्रतिष्ठित कर देती है। दूसरे शब्दों में यह मानसिकता उसी बात का प्रतिपादन करती जैसी है कि संसार तो सिवाय माया के कुछ नहीं है। 'सतरंगे चित्र' नामक कविता का यही सार है। 'उजाले की बूँद' में कवयित्री ने पहले तो अपने देश की लोकतन्त्रीय विषमताओं की तीक्ष्णता को उभारा है और कहा है कि यहाँ तो शब्दों की गोलियाँ चलती हैं, दृष्टियों के डण्डे प्रहार करते हैं, घुटन की अश्रु-गैस यन्त्रणा देती है, आदमी लावारिस लाश बन जाता है और उस पर घृणा से थूक दिया जाता है, गुलमेंहदी अरक्षित रहती है, उसकी पत्तियों को बकरी चर लेती है और उसके फूल को जूते की ठोकर से उछालकर गहरे गह्वर में फेंक दिया जाता है। गह्वर को बड़ी मेहनत से खोदा गया है। गहरा अँधेरा है वहाँ। आँखें बन्द होती चली जाती हैं। एक बार फिर खुलती हैं तब जब अन्तिम बार उन्हें बन्द हो जाना है। तभी वे निगाहें याद आती हैं। तभी फिर वही घुटन, वही बोझ और ढेरों कूड़ा दिखता

है। आदमी को तभी, इस बार फिर, सूर्यास्त के समय, उजाले की एक बूँद मिलती है जो घने अन्धकार को मथ डालती है, आदमी उस बूँद को कुरेदता है और महसूस करता है कि वह एक सुरंग है, उजाला-प्राण-ऊष्मा की। वह अपने अन्तर्मन से बाहर निकलता है और सन्ध्याकालीन दिनकर को निहारता है (जो रंग बदलकर काषाय हो जाता है) और ऐसे वातावरण में पहलेवाली वह घुटन समाप्त हो जाती है और नवजीवन की अनुभूति होती है। न दृष्टियाँ अब डण्डे लगती है, न वह ढेलती आघात करती हैं, न बरौनियाँ चुभती हैं—आँखें अंजलि बन जाती हैं, बरौनियाँ आचमनी हो जाती हैं। यह परिवर्त्तन मनोभूमि में हुआ, तो लेकिन केवल काल्पनिक हुआ। इस परिवर्त्तन का कोई भौतिक आधार नहीं है। इसीलिए यह कविता तथाकथित आध्यात्मिक परम्परा की कविता होकर समाप्त हो जाती है। पूँजीवादी लोकतन्त्र ऐसी आध्यात्मिकता को बरकरार रखता है और ऐसी भौतिक परिस्थितियाँ नहीं पैदा करता कि वह छद्म (परिकल्पनात्मक) आध्यात्मिकता बदलकर समष्टिगत हो जाय और वैयक्तिक (—निजी-एकाकी—) आध्यात्मिकता के बजाय समस्त मानव-जाति की आध्यात्मिकता हो जाय। आज के इस विश्वव्यापी परिवर्तन के दौर में यदि व्यक्ति से व्यक्ति और देश से देश सम्बद्ध होकर महान् मानवीय आध्यात्मिकता के लिए भौतिक परिस्थितियाँ पैदा नहीं करते, तो पारम्परिक आध्यात्मिकता के निस्संग अतीत में जीकर अतीत में ही लोप हो जाना होगा। पुनर्जन्म न होता है, न होगा। इसलिए उस पर विश्वास करना और फिर-फिर उसी-उसी अतीतजीवी आध्यात्मिकता की दुहाई देना विवेकसंगत नहीं कहा जा सकता। 'एक खटखटाहट' नाम की कविता में भावना तादात्म्य प्रज्ञा क्षण की कल्पना भी, कवयित्री ने, पारम्परिक आध्यात्मिकता के बलबूते पर कर डाली है। ऐसे तादात्म्य प्रज्ञा-क्षण की प्राप्ति का लक्ष्य ही जैसे मानवमात्र का लक्ष्य हो। अवशेष इच्छा का जरा-सा झटका इस तादात्म्य की स्थिति को तोड़ देता है। इसी 'झटके' को 'खटखटाहट' कहा गया है। दूसरे शब्दों में अवशेष मानवीय इच्छा को ऐसी आध्यात्मिकता का विरोधी प्रतिद्वन्द्वी—प्रस्तुत किया गया है। इस मानसिकता के निर्माण और इसके बराबर बनाये रखने की सारी जिम्मेदारी पूँजीवादी लोकतन्त्र पर ही है। व्यक्ति और व्यक्ति और देश और देश जब समष्टिगत मानवीय आध्यात्मिकता के लिए भौतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देंगे, तभी सच्ची आध्यात्मिकता की अवतारणा हो सकेगी। इस दिशा में प्रयास चल भी रहा है।

एक और कविता है 'आत्मसम्मान की मौत'। इसमें कवयित्री ने कहा है कि इन्सान को अपनी आत्मसम्मानता का बोध तब-तब होता है, जब-जब उसके आत्मसम्मान की मौत होती है। जब कोई व्यक्ति किसी के प्रति पशुवत् व्यवहार करता है, तभी उस व्यक्ति को यह एहसास होता है कि वह भी एक आदमी है। उसे अपने आत्मसम्मान का घेरा भी तभी अर्थवन्त मालूम होने लगता है। इस प्रकार के ठेस लगने से जो पीड़ा होती है, उसी को इस कविता में 'जागृति' और 'नवजीवन' कहा गया है। प्रश्न यह है कि क्या इसे जागृति या नवजीवन कहा जा सकता है? मैं समझता हूँ कि इसे ऐसा कुछ

भी नहीं कहा जा सकता। जागृति और नवजीवन दोनों ही ऐसी पीड़ा से सम्भव नहीं होते। यह दोनों तो व्यक्ति के आन्तरिक जड़त्व को, यानी निजता में खोये-खोये और सिमटे-समाहित व्यक्तित्व को कुरेद भर देते हैं। इस कुरेदन से चेतना पैदा हो जाती है, ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता। चेतना तो द्वन्द्व के सतत संघर्ष से, यथार्थ के मैदान और जन-जीवन के अन्य पहलुओं के विवेचन और मानव-चित्त के व्यापक प्रसार को पाने से प्राप्त होती है, न कि किसी निजी परिकल्पनात्मक स्थिरता की मनोदशा पर अनचाही ठेस से। यह अच्छी तरह से जान लेने की बात है। व्यक्ति की जागृति और नवजीवन होते हैं, जब वे दोनों जन-जीवन के व्यक्तित्व के निरूपण में संलग्न और सन्नद्ध होते हैं। 'सुनी लघु अस्तित्व' नाम की रचना भी पारस्परिक आध्यात्मिकता में पगी हुई, विराग-अनुराग, गुरु-लघु से परे, ताप और परिताप से भी युक्त केवल सार्थक, ऊष्म-शीतल अस्ति के समर्थन को अभिव्यक्त करती है। इसे नयी कविता नहीं कहा जा सकता।

'विवशता के कुछ क्षण' की कविता उस मन:स्थिति को समर्थन देती है, जहाँ पहुँचकर लय बदल जाती है और इसी के फलस्वरूप आघात भी अनाघात हो जाता है और विवशताओं के तक्षक विषय-सम से व्याकुल होकर, अपने आरोहियों के बोझ के प्रति चेतन हुए उन्हीं की ओर उन्मुख हो जाते हैं। यह विडम्बना की स्थिति है, जिसमें आज का लोकतन्त्रीय आदमी जीने के लिए विवश बना रहता है और बार-बार उसी पारम्परिक आध्यात्मिकता के बनाये हुए पथ पर पहुँच जाता है। अभी तक आदमी की मानसिकता मानव जाति की मानसिकता बनने की ओर अग्रसर नहीं हो सकी। परन्तु एक बात तो माननी ही पड़ेगी कि विडम्बना की इस स्थिति को जिस रूप में अभिव्यक्त किया गया है, वह रूप विडम्बना को, पूरी तीक्ष्णता और तीव्रता को व्यक्त कर सका है। शक्तिशाली मनु के समुद्र-मन्थन से यह कविता शुरू होती है। आशा यह थी कि कवयित्री मनु के इस प्रयास को औचित्यपूर्ण और मानवोचित मानकर ही अपनी बात कहने के लिए आगे बढ़ेगी और मानवीय विकास-क्रम के ऐतिहासिक सन्दर्भ में ही अपनी रचना-धर्मिता का परिपालन करेगी। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। तथाकथित आध्यात्मिकता ही कवयित्री की चेतना पर शुरू से ही आरोपित हो जाती है और अन्त तक बनी रहती है। नतीजा वही होता है, जो ऐसा में होता है कि यथार्थ के तक्षकों के डसे लोग तथाकथित आध्यात्मिक मानसिकता में पहुँच-कर अपनी सम्पूर्ण चेतन मानवीय मानसिकता से छुटकारा पा लेते हैं। यह सांसारिकता से बचने का पुराना तरीका है। वह तरीका यहाँ भी, इस कविता में, नये सन्दर्भ की शब्दावली में प्रयुक्त हुआ है।

'कालकूट' कविता में नारी, विषकन्या बनती है और विष में ही अमृत के सुख को पा लेती है। काकूक्त-सा अविश्वास और असह्य मर्मान्तक कष्ट भी इसके भीतर विश्वास-ही-विश्वास पैदा करते और नयी-नयी प्रेरणा देते हैं और उसे भरपूर एकाग्र बनाते हैं। वह इस हद तक सम्पूर्ण समर्पित हो चुकी है (किसी के प्रति अथवा किसी व्यवस्था के प्रति अथवा किसी दैवीशक्ति के प्रति) कि वह दिये गये दंशों से विचलित

नहीं होती और न विष-ही-विष मिलते रहने से विगलित होती है। वह इस दंश देनेवाले और विषाक्त बनाने-वाले को ललकारती है कि वह उसे वैसा करने से नहीं रोकेगा। यह सब क्या है? परवश बने रहने के अलावा और क्या है? हत्यारे निरंकुश के प्रति भी मूक ही रहे-रहे जीना दासता नहीं तो क्या है? इस पूँजीवादी लोकतन्त्र में नारी का अब तक उद्धार नहीं हुआ। उसकी मानसिकता दिशा-दृष्टिहीन मानसिकता है। 'हलाहल की छलक' में भी यही मन:स्थिति मिलती है। सपेरा है कोई, जो नवजात के कण्ठ में विष उँड़ेलता है और परिस्थिति यह है कि शिशु उस गरल को अमृत समझकर पीता है। यह दृश्य प्रतीक रूप में व्यक्त हुआ है, इस कविता में। सपेरे के रूप में आज की विषाक्त व्यवस्था है और शिशु के रूप में हैं। नये आजाद हुए अपने देश के लोग, जो आज पूँजीवादी लोकतन्त्र में मर-खप रहे हैं। इनके उद्धार की कल्पना केवल सपेरे से आग्रह करने में ही की गयी है कि उससे कहा जाय कि वह ईश्वर से थोड़ा डरे, यानी ईश्वर के नाम पर दूसरों पर दया करे। अब मानव-जाति ऐसी मानसिकता के विरुद्ध सक्रिय हो चुकी है और इसका उन्मूलन चाहती है।

अति उन्नत आत्मा की यही नियति है कि वह अन्ततक अकेली ही रहती है। वह ऊँची चढ़ाई चढ़ती चली जाती है। निजी आध्यात्मिक विकास में कोई अन्य व्यक्ति सहयात्री नहीं होता। कवयित्री ने इस एकाकीपन को अभिशाप की संज्ञा दी है। मगर उन्होंने ऐसे अभिशाप को अमानवीय नहीं बताया। इसके विपरीत उन्होंने अपनी कविता–'जो बहरे हैं'–में इस अभिशप्त नियति के वरदान-पक्ष को इंगित किया है, जैसे कि उसके समर्थन में अपनी आत्मिक स्वीकृति दी है। यह ऐसी आदर्शवादिता है, जिसे आध्यात्मिक दु:साहसिकता कहने में कोई संकोच नहीं होता। मानव-जाति का महान् आदर्श है कि वह भौतिक जगत् को ऐसा बनाये कि वह कल्पित स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर और अधिक सुख-शान्तिमय हो और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से इस प्रकार सम्बद्ध हों कि जैसे वह दो नहीं–एक हैं, अनेक नहीं एक हैं, महान् मानवीयता के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

छोटी-छोटी कविताओं के अतिरिक्त भी दो कविताएँ और हैं, जो इस संकलन की सविशेष कही जा सकती हैं। वह हैं : 'काल की दाढ़ तले' और (2) 'समय के टुकड़े'। पूँजीवादी लोकतन्त्र के चरित्र का कच्चा चिट्ठा इन दोनों रचनाओं में ही अधिक गर्हित होकर खुला है। 'दाढ़ तक' का 'योजनों-विस्तार वाला काल का भयंकर अँधेरे का चारों ओर से घिरता आ रहा खुला मुँह'और कुछ नहीं आज की यही व्यवस्था है, जिसमें रहे-रहे आज की नारी नितान्त अकेली–एकाकी होकर काँपती-काँपती, सिकुड़ती-सिकुड़ती बौनी हो गयी है। वह भय से आँखें भींच-भींच कर सोचती रहती है कि वह 'तमस खिलाड़ी' (यानी व्यवस्था) उसे जरूर निगल लेगा। वह उसकी नुकीली दाढ़ों को अपने सुकोमल अंगों में गड़ते हुए पाती है। वह 'खिलाड़ी' इतना क्रूर है कि ऐसी निर्ममता के व्यवहार के बाद भी अट्टहास करता है और नारी को बहरा कर देता है। फिर भी नारी है कि अपने फूल-पराग-से कोमल भावों को अपने अन्तरंग में

सँजोये और सुरक्षित रखने का पूरा प्रयास करती ही रहती है। वह उस क्षण के इन्तजार में, अपाहिज होती हुई भी, दाढ़ तले दबे-दबे जीती रहती है, जब 'तमस खिलाड़ी' शायद कभी स्वयं अपने कृत्य से झुँझला उठे। वह क्षण कब आयेगा, यह उसे पता नहीं। उसके हाथ लुंज हो जाते हैं (यानी वह शक्ति-सामर्थ्यहीन हो जाते हैं), फिर भी वह अपने इन्हीं हाथों से इस व्यवस्था के सारे दर्द को पीछे ठेलने का ढोंग करती है और इसी आशय में लगी रहकर ऐसा ही करती रहती है कि उसके साथ सारे सुकोमल भावों को अन्तिम साँस तक थामे रहें, ताकि वे भाव हमेशा-हमेशा के लिए अस्तित्वहीन न हों। व्यवस्था अमानुषिक है—कोमल भावनाओं की दुश्मन है—नारी के प्रति निर्मम और बुरी तरह से अनुदार है। वह अब भी नहीं बदली। धन्य है नारी, कि इस सत्य को जानते हुए भी वह मरते दम तक आज भी सुकोमल भावनाओं को बनाये रखना चाहती है। उसके त्याग और तपस्या की दाद देनी पड़ती है। इसी तरह का जीवन, देश की अधिकांश नारियाँ जीती हैं और उद्धार के क्षण की प्रतीक्षा करते-करते चल बसती हैं। लेकिन व्यवस्था अपने-आप नहीं बदल सकती। नारी को यह समझना होगा। उसे बदलने के लिए, अपने मानवीय अधिकारों को पाने के लिए, नारी को संघर्ष करना पड़ेगा। अन्यथा निर्मम व्यवस्था, गूँगी-बहरी बनी, पहले से चले आ रहे वही साम्पत्तिक सम्बन्ध बनाये रखेगी, जो उसे निगलते रहेंगे।

'और सुनोगे' नाम की कविता भी एक और ऐसे ही तिक्त सत्य को प्रस्तुत करती है, जो इसी पूँजीवादी लोकतन्त्र की व्यवस्था की देन है। वह सत्य यह है कि इसमें जीने वाला व्यक्ति न देह का रहता है—न मन का—न कहीं का। कविता का सम्बोधित अतीन्द्रिय और कोई दूसरा नहीं आध्यात्मिकता का मुखौटा लगाये, सबकी आँखों से ओझल, छलिया लोकतन्त्र में तो नारी यातना-देह से मुक्त होने की लालसा करती है। इसी लोकतन्त्र में तो नर, नारी को हिंसा पशु की तरह खा लेना चाहता है। इसी लोकतन्त्र है। इसी लोकतन्त्र में नर और नारी के सम्बन्ध साम्पत्तिक सम्बन्ध बनते हैं। नारी भोग्य बना दी जाती है और नर बन जाता है वासना की तुष्टि करने वाला। साम्पत्तिक सम्बन्ध में बँधे पति-पत्नी-दोनों ही जैसा जीवन जीते हैं, उसकी एक झलक 'फिर बरस बीता' नामक कविता में मिलती है। पति की जिन्दगी सौ किलोमीटर की रफ्तार से क्षण-पर-क्षण दौड़ती चलती है, बिना रुके, पत्नी को पीछे छोड़कर। पत्नी की जिन्दगी मारे-सी बिखरती रहती है—पति की विमुखता की आँच से ही तपती रहती है उसकी जिन्दगी। वह चाहे जितने प्रयास करे, जिन्दगी को पकड़ नही पाती। और जिन्दगी है कि वह अबूझ पर्वतमाला-सी जड़ और अडिग ही बनी रहती है। इस जिन्दगी की दो पटरियाँ हैं। एक ईर्ष्या की है दूसरी मोह की। मन कभी ईर्ष्या की पटरी पर दौड़ता है तो कभी मोह की पटरी पर। ईर्ष्या और मोह में बारी-बारी से होती हुई ऐसी जिन्दगी लड़खड़ाती, गिरती-पड़ती चलती रहती है। साल-पर-साल बीतते चले जाते हैं। पति और पत्नी प्रणय-सूत्र में बाँध तो दिये गये होते हैं, पर एकात्म होकर प्रेम का सुखद जीवन नहीं जी पाते। 'प्यार-प्रणय' नाम की कविता में तभी यह मानसिकता

बनकर उभरी और सामने आयी कि प्रेम और प्रणय सिर्फ युग-युगान्तर से चली आ रही बातें ही नहीं, वह तो दरअसल में युग-युग की घातें हैं। प्रेम और प्रणय की यह विफलता वास्तव में हमारे वर्त्तमान लोकतन्त्र की विफलता है। यह लोकतन्त्र सम्पत्ति की यथास्थिति कायम रखनेवाला और उसके सभी सम्बन्धों को भी बरकरार रखने वाला लोकतन्त्र है। इस लोकतन्त्र में पुरुष, पति होकर भी, साम्पत्तिक सम्बन्धों की सुरक्षा में ही पत्नी के प्रेम-प्रणय को उपेक्षित किये रहता है और पत्नी है कि वह निरन्तर उपेक्षित रहकर भी तड़पती रहती है। वह वाद्ययन्त्र की तरह बजती-पुकारती रहती है, अपने पति को। रात में सोती है इसलिए कि स्वप्न में पति को पाये और सुखी हो। 'स्वप्न साची' नाम की कविता में इसी बात की अभिव्यक्ति हुई है।

'समय के टुकड़े' में अपने देश की ही नहीं, वरन् पूँजीवादी व्यवस्था के अन्य देशों को भी समेट लिया गया है। जैक्लीन और क्रिस्टीना की रानी का भी उल्लंघन इस कविता में हुआ है। परन्तु देश चाहे जो हो, पूँजीवादी लोकतन्त्रीय व्यवस्था, सभी जगह की, करीब-करीब एक ही स्वभाव की होती है। आम आदमी, कहीं का भी हो, ऐसी व्यवस्था में, आदमी होकर जीने के लिए तरसता और तड़पता ही रहता है। यही नहीं, छोटे से लेकर बड़े तक पूर्ण मानवीय मानसिक विकास नहीं कर पाते। पहले सभी के दिमाग गोबर से भरे होते हैं और अब तो वह 'खाती डिब्बे' जैसे हो गये हैं, जिनमें यन्त्रणा, परवशता, विवशता, अनास्था, अनिश्चित-अनुर्वर संत्रास सरीखे शब्द मामूली कंकड़ों-से बजते रहते और कानों को बेधते-बेधते बहरा करते रहते हैं। जिन डिब्बों में आस्था, आश्वासन, आस्वादन के लेबिल लगे होते हैं, लोग उन्हें पकड़ लेते हैं। मगर खाली खोल पाकर उन्हें फेंक देते हैं और फिर आँखें बन्द कर अपनी जड़-समाधि में डूब जाते हैं। इस स्थिति में पहुँचा आदमी सब-कुछ से विमुख हो जाता है और समय के आने-जाने से कोई मतलब नहीं रहता। शुभकामनाओं की कोई जरूरत नहीं महसूस करता। अपने कमरे में मौन बैठा वह यही चाहता है कि कोई उसका मौन-एकान्त भंग न करे। इस कविता का भी महत्त्व इसी बात में है कि यह उस मानसिकता को व्यक्त करती है, जो ऐसे लोकतन्त्रीय व्यवस्था की ही देन होती है और जिसका कोई मानवीय मूल्य नहीं होता। न आमदी किसी का रह जाता है, न समय किसी मतलब का।

'मरीचिका' कविता में कवयित्री की दृष्टि भ्रमित हो गयी है और मन के सूर्य को ही मरीचिका के लिए दोषी ठहरा दिया है। मरीचिका को दोषी ठहरानेवालों के प्रति उसने आक्रोश व्यक्त किया है। उसने कहा है कि दोष देनेवाले अपनी पुतलियों को नाखूनों से खरोंचें, जिन्होंने उन्हें छला है। बेचारी रेत, जो मरीचिका का भ्रम पैदा करती है, उसे घृणा से न देखना चाहिए। यह कविता इस संग्रह की सबसे कमजोर कविता है, क्योंकि इसकी काव्यात्मक पकड़ विवेकहीन है।

'सिन्दूरी तपन' अपरिपक्व भावावेश की कविता है। चाँदनी में मन तैर रहा है। खिड़की के बाहर यूक्लिप्टस खड़ा दिखाई देता है। वह वहाँ पर जैसे किसी पुरुष का

समानार्थी हो गया है, जो प्रेमिका के हृदय में प्रेमी के स्मरण का कारण बनता है और वह बिसूरने लगता है कि क्या प्रेमी को प्रेमिका की कुछ भी याद नहीं आती?

इस प्रकार याचना-विभोर होना ही इस बात का प्रमाण है कि पूँजीवादी व्यवस्था में सिवाय याचना करके ही सौन्दर्य की प्राप्ति की जा सकती है न कि प्रकृति के बादल-बिजली वाली बरसात का रूपान्तरण करके, उसको आदमी के हित में वशवर्त्ती बनाकर। इसके अतिरिक्त इस कविता को प्रतीक की अपरोक्ष योजना देकर इसके माध्यम से मानवीयकरण की अभिव्यक्ति भी की गयी मालूम होती है और वह यह है कि आदमी जरा-सी बात से न चिढ़े, न कभी घुटे। बरसात जैसे कुण्ठा और कुरूप का प्रतीक हो और शरद् जैसे हर्ष और उल्लास का। लेकिन सही बात तो यह नहीं है। बरसात का भी अपना सौन्दर्य होता है और शरद् के सौन्दर्य से किसी तरह से कम नहीं होता। इस कविता में व्यक्त मानवीयकरण केवल शुभेच्छुक स्वभाव का है। ऐसी शुभ इच्छा सफल भी होगी या नहीं, कहा नहीं जा सकता। देखने की और बखूब समझने की सबसे बड़ी बात यह है कि ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था में, आदमी जिसे स्वयं नवीन सौन्दर्य की सृष्टि करना चाहिए, वैसा कर सकने के लिए सक्षम नहीं रहता; अपितु केवल प्रकृति के किसी-न-किसी तत्त्व पर निर्भर रहकर उससे ही अपने लिए सौन्दर्य प्राप्त कर सकने की साध रखता है। आदमी जैसे सौन्दर्य की कोई सृष्टि ही नहीं कर सकता। एक प्रकार से यह मानसिकता आदमी के समस्त पुरुषार्थ को नकारती है और दैवी शक्ति पर ही अपने को स्थापित करती है। इसे परजीवी मानसिकता ही कहा जा सकता है। 'सूर्य की आँखें' नाम की कविता में जो सुबह-दोपहर-शाम का रूपांकन हुआ है, वह भी स्थापत्यशील सौन्दर्य नहीं है। नन्हीं जान की परिश्रमरत चिड़ियों का दोपहरी के सन्दर्भ में जो हल्का-सा उल्लेख कर दिया गया है, वही इस कविता को मानवीय श्रम से सम्बद्ध करता है और तभी यह कार्यनिरत आदमी के जीवन की झलक देता है अन्यथा इस रचना में तो सूरज और चाँद की सौन्दर्य ही सृष्टि करते हैं और आदमी तो उस सृष्टि को देखता भर रहता है। वह सृष्टि का स्रष्टा नही द्रष्टा होता है। यह व्यवस्था इस सीमा तक अमानवीय बना देती है कि नारी— कोमल, सूक्ष्म, संवेदनशील हृदया जड़ होकर वेदनाविहीन और निरश्रु हो जाय और सदा-सदा के लिए निरभिव्यक्तिक हो जाये। वह तथाकथित आदर्शवादी चरम परिणाम स्त्री को स्त्री नहीं रहने देती—न ही यह उसे नर की सहयोगिनी रहने देती है। ऐसी आध्यात्मिकता शून्य की उपलब्धि की आध्यात्मिकता है, जिसे अमानवीय जड़त्व ही कहना श्रेयस्कर होगा।

'अपरिचित फैलाव' यह एक विलक्षण कविता है। पूँजीवादी व्यवस्था में जो अलगाव (estrangement) व्यक्ति-व्यक्ति को भोगना पड़ता है, वह यहाँ इस कविता में, आकाश और धरा को भी माँगना पड़ता है। आकाश अपनी समग्र रत्न-राशि बादलों के कवच से ढँक लेता है और धरा की अकाल-शृत रोम-रोम खुली आँखें उस अमिय कवच से टकराने लगती हैं, टकराते-टकराते थकने लगती हैं और थकते-थकते झपकने लगती हैं। तभी पृथ्वी के अचेतन कण्ठ से पुकार उठती है कि आकाश अपना

कवच उतार दे। पृथ्वी की यह पुकार भूमि-पुत्रों की ही आवाज है। आकाश है कि पुकार सुनकर भी अपना कवच नहीं हटाता और रत्नराशि को छिपाये ही रहता है। धरती की तनिक ऊष्मा की माँग भी वह स्वीकार नहीं करता। धरती अपने ही ताप में तपती-दहकती रहती है। सरसता का उसका स्वप्न सफल नहीं होता। यहाँ आकाश और धरती का प्राकृत पारस्परिक सम्बन्ध वैसे ही टूट गया है और वे दोनों एक-दूसरे से वैसे ही विच्छिन्न और विलग हो गये हैं, जैसे पूँजीवादी जीवन को माँगते हुए लोग-बाग एक-दूसरे से विच्छिन्न और विलग हो जाते हैं। आकाश आदिम युग से ही, आदमी के लिए, रहस्यों का भाण्डार रहा है। उसके नक्षत्र-गण, उसके उडगण, उसकी ज्योतित नीलिमा और उसका श्याम-तमाल अन्धकार, सभी तो आदमी को अपनी ओर आकृष्ट करते चले आये हैं।

गगन तो धरा से अधिक ऐश्वर्यशाली और वैभवपूर्ण हमेशा ही समझा जाता रहा है, उसी तरह जैसे मानव-लोक के निवासियों के बीच कोई धन-कुबेर, जिसके पास अकूत सम्पत्ति और समृद्धि है। इस कविता की सार्थकता इसी में है कि पूँजीवादी व्यवस्था में जब-जब अन्तर्विरोध तीव्र हो जाता है और पूँजी ही सर्वोपरि होकर, शोषण से सँवरी आदमियों को उनके अन्तरंग में ही डूब जाने के लिए विवश कर देती है, तब जो मानसिकता बनती है, वह ऐसी ही मानसिकता होती है, जिसका कोई लगाव सामाजिक अथवा वैज्ञानिक सत्य से नहीं होता और न ही वह कोई मानवीय समाधान प्रस्तुत करती है। बल्कि शरद् के आकाश से हँसने के लिए याचना-विभोर होती है कि वह मुक्त उड़ते बादलों में—काँस के फैलाव में—श्वेत पद्मों में और रुपहले पक्षियों की पाँत में दिन भर हँसे और जब रात हो तब स्वप्न में भी मुसकराते होंठ दिखें।

'अन्तिम नीरस बात' में कवयित्री ने अपनी कविताओं को विकृतियाँ कह डाला है। वह उनकी उस मानसिकता को विम्बित करता है, जो काव्य की कृतियों को तुच्छ समझती है। यह मानसिकता भी पूँजीवादी लोकतन्त्रीय व्यवस्था की वजह से बन सकी है। आदमी जीवित ही रहता है अपनी चेतना की दी हुई कृतियों में। अपनी कृतियों से विमोह अथवा विराग भी होता है जब चेतना का सर्वोपरि महत्त्व नहीं समझता और केवल इन्द्रियों का निम्न जीवन ही जीते-जीते, कष्टों से ऊब-ऊबकर, स्वयं मानव-जीवन को निरर्थक मान बैठता है।

'महान् सुख' भी उन व्यक्तियों की मानसिकता की कविता है, जो कष्ट झेलते-झेलते लोकतन्त्रीय व्यवस्था में घुटते रहते हैं और उससे किसी-न-किसी प्रकार से छुटकारा पाने के लिए तड़पते रहते हैं। और इस प्रकार का छुटकारा उन्हें तब मिलता है, जब वह एक सही नौकरानी पा लेते हैं, जो उनका घरबार, उनके बाल-बच्चों, उनके खाने-पीने की ठीक-ठीक व्यवस्था करती रहती है और वह जहाँ चाहे घूमते-फिरते रहते हैं और जो चाहा पढ़ते रहते हैं। सबसे बड़ा दुःख भी ऐसे व्यक्तियों को तब होता है, जब ऐसी नौकरानी नहीं होती और घर में हर अभाव के लिए—खाने-पीने के लिए

पैसों कपड़ों के लिए—मनोरंजन के लिए, कर्त्तव्यपरायण होने के लिए, तिलफते रहकर चिड़चिड़ाते-चिड़चिड़ाते जीना पड़ता है।

'हिमालय-शृंखला' की कविताएँ प्रकृति से सम्बन्धित हैं। इनमें मानवीय चेतना वास्तव में चेतना-रत है। यहाँ बौद्धिक भेदन-विभेदन नहीं है। सहज सरल ऊर्जा प्रकृति से सम्बद्ध होकर संवेदनशील हो गयी है। प्रकृति के रंग-रूप, हाव-भाव और उसके पल-प्रतिपल परिवर्तन को यहाँ आकाश, सूर्य, बादल और किरणों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। कवयित्री की चेतना यहाँ सौन्दर्यमुखी हो गयी है। उनका ज्ञान-बोध एवं उनकी दार्शनिक पैठ दोनों ही प्रकृति की रम्यता में स्थगित होकर कहीं अज्ञान दूर में पीछे रह गये हैं और काव्य की पंक्तियाँ बाहर निकल आय हैं। इन कविताओं के रचाव में भी पूँजीवादी लोकतन्त्रीय व्यवस्था के कुछ स्थिर, चले आ रहे मानसिक तत्त्व अपनी छाप छोड़ गये हैं। प्रकृति और मानवीय चेतना दोनों ही एक-दूसरे को अपनी-अपनी तरफ खींचते हैं और इस प्रयास में दोनों ही सुखाभिमुखी होकर कहीं-न-कहीं समझौता कर लेते हैं और रचनाएँ क्षण-क्षण की क्षणभंगुरता में भी मन के आस-पास टिकी रह जाती हैं।

❐

साक्षात्कार

समय-समय पर कवि केदारनाथ अग्रवाल से अनेक जिज्ञासुओं ने साक्षात्कार करके साहित्य एवं काव्य-सम्बन्धी उनके विचार संग्रह किये हैं। यहाँ तीन महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार प्रस्तुत हैं, जिनमें कवि ने बड़ी स्पष्टता से अपने विचार प्रकट किये हैं। प्रश्न और उत्तर की शृंखला बनी रहे, इसीलिए इन विचारों को लेख का रूप न देकर साक्षात्कार के रूप में ही, हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं—

— प्रकाशक

बातचीत*

केदारनाथ अग्रवाल हिन्दी की प्रगतिशील कविता के जन्मदाता कवि हैं। उनकी कविता में उस आन्दोलन का जन्म, शैशव, यौवन और प्रौढ़ता सभी स्थितियों के प्रमाण-विकास भी प्रक्रिया में मिलते हैं। रचना-प्रक्रिया में गुणात्मक विकास होता रहा है न केवल कथ्य के क्षेत्र में, वरन् आवयविक संरचना में भी। कुछ समीक्षकों ने उन्हें रूपवादी इसलिए कहा कि वे रूप के भीतर ठोस कथ्य को नहीं पकड़ पाये। उनकी निगाह कविता के रूप के इर्द-गिर्द मँडराती रही। हकीकत यह है कि केदार जी की कविता के रूप की समझ अकेले हो नहीं सकती। रूप के भीतर धँसते ही भीतर का कथ्य पूरे बौद्धिक आवेग के साथ उमड़ पड़ता है।

पिछले दिनों केदार जी सागर आये। उन्होंने अपनी चुनी हुई कविताएँ कई-कई चरणों में सुनायीं। लोगों के आग्रह पर उन्होंने सधा हुआ वक्तव्य दिया। इस अवसर पर कमलाप्रसाद से उनकी लम्बी बातचीत हुई, एक तरह से साक्षात्कार की तरह। जिसमें कवि ने ईमानदारी से अपने समय के साक्ष्य की पृष्ठभूमि में काव्य और समीक्षा के सम्बन्धों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला।

कमलाप्रसाद : केदार जी, आप तो हिन्दी प्रगतिशील कविता से उस समय से ही जुड़े रहे हैं, जब से यह आन्दोलन के रूप में शुरू हुई। लगभग चालीस वर्ष हो गये, इस आन्दोलन के। मैं यह समझना चाहूँगा कि आप कविता के माध्यम से आन्दोलन से जुड़े या विचारधारा के माध्यम से। कौन-सी चीज है, जो आपको इस ओर ले आयी?

केदार जी : कविता से तो मैं बहुत पहले से जुड़ा हुआ था, पिता जी की वजह से। लेकिन जब सन् 34-35 में निराला जी के सम्पर्क में आया और मुझे हवा में राजनीति का एहसास हुआ, रामविलास शर्मा तो मेरे दोस्त थे ही—तो इन लोगों की वजह से मैं प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़ गया। अगर ये न होते, तो शायद मैं उस ओर न जाता, मेरी सम्बद्धता वहाँ न होती। इसलिए कि मेरा स्वभाव है कि जब तक कि कोई आदमी मुझे ठीक से न मिले, तब तक मैं उससे नहीं मिलता। तो बात यह है कि मैं इन्हीं दो-तीन लोगों की वजह से, कहीं निराला की वजह से, कहीं पी० सी० गुप्त की वजह से और कहीं रामविलास शर्मा की वजह से और दूसरे 'हंस' की वजह से आन्दोलन से सम्बद्ध होता गया। इसके पहले कविताएँ लिख रहा था, लिखता जाता था,

---

* केदारनाथ अग्रवाल से कमलाप्रसाद की बातचीत।

मैं किसी को जानता नहीं था, तो उनका क्या होता? हंस ने सबसे पहले मुझे सहयोग दिया। जो कुछ भी लिखूँ–रद्दी या अच्छा, उसमें छप जाता। बी० ए० में मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में हिन्दी-साहित्य परिषद् का सेक्रेटरी बना। एक बार इसकी ओर से कहानी-प्रतियोगिता हुई। प्रेमचन्द उसमें मुख्य अतिथि थे। पहली बार निकट से उन्हें देखा। उनके भाषण का भी प्रभाव पड़ा। पी० सी० गुप्त अच्छे सहृदय मित्र थे; कम बोलने और अच्छा लिखनेवाले, रामविलास जी तो जरा तेज-तर्राक आदमी थे। मैं इन सबसे जुड़ा और आन्दोलन का अंग बनता गया।

कमलाप्रसाद : रामविलास शर्मा और पी० सी० गुप्त का जो आपने नाम लिया, तो यह तो सभी को मालूम है कि ये प्रगतिशील-आन्दोलन के बहुत ही बड़े कार्यकर्त्ता रहे हैं। लेकिन निराला के बारे में जो आपने कहा, तो निराला जी की राजनीतिक स्थिति के बारे में कुछ कहेंगे आप?

केदार जी : भाई निराला कोई मार्क्सवादी तो थे नहीं। वे किसानों से हमदर्दी रखते थे और यही सिखाते थे। इन्हीं बातों को या और भी–वे बहुत अच्छी तरह कविताओं में व्यक्त करते थे। वे कविता को बहुत गम्भीरता से लेते थे। उनकी कविताएँ बहुत अच्छी होती थीं। उनकी मानसिकता कविता में कलात्मक होकर आती थी। यही कारण है कि निराला मुझे बेहद पसन्द थे। रामविलास शर्मा भी निराला को पढ़ते थे, वे उनके समर्थक थे। मैथिलीशरण भी थे, उस जमाने में और दूसरे तमाम लोग इलाहाबाद में लिख रहे थे। लेकिन मुझे कोई प्रभावित नहीं कर सका। एक बात बता दूँ कि मैं प्रगतिशील-आन्दोलन से जुड़ा और जुड़ तो जरूर गया, लेकिन उसमें सक्रिय नहीं था। उसकी गतिविधियों में बहुत पार्टिसिपेट नहीं कर पाता था; क्योंकि मैं बाँदा आता-जाता रहता था। मेरे चाचा जी बहुत ही कठोर अनुशासन रखते थे।

क. प्र. : रूढ़िवादी थे?

केदार जी : नहीं, रूढ़िवादी तो नहीं थे, पर वे कहते थे कि पहले कचहरी का काम करो, पहले अपना कर्त्तव्य करो, कविता तो शौक है, कभी-कभी कर लो। यह नहीं कि उसके पीछे निरन्तर दौड़ते रहो।

क. प्र. : आपने आरम्भ में कुछ ब्रजभाषा की कविताएँ लिखीं और फिर आपने कहा है कि रामकृष्ण सिलीमुख आदि के प्रभाव से छायावादी किस्म की कविताएँ लिखीं, तो जो यह प्रगतिशीलता की ओर आपका झुकाव हुआ, तो इस दृष्टि से आप अपनी सबसे पहली प्रगतिशील कविता किसको कहेंगे–क्या याद है ऐसा कुछ?

केदार जी : सबसे पहले प्रगतिशील रचना का मुझे स्मरण नहीं है.... सन्' 38 से स्पष्ट रूप से मुझे राजनीतिक चेतना का एहसास होने लगा था और मेरी मानसिकता, कवि वाली मानसिकता–उस तरफ अपने-आप जाने लगी थी। मैं आदमी पर लिखूँ, किसान या औरत पर लिखूँ–चाहे जिस विषय पर लिखूँ–उसी मानसिकता से लिखता था। मुझे, प्रगतिशीलता-विरोधी जितने लोग थे, सब बेईमान दिखते थे। कुछ मेरी

नैतिक धारणा ऐसी बनी कि इस व्यवस्था में लगे सभी आदमी, सब-के-सब बेईमान थे। इसी जाँच-पड़ताल में गरीबों के प्रति मेरी हमदर्दी बढ़ती गयी। एक बात कहूँ कि मैं कुलीन घराने में जन्मा जरूर, लेकिन मुझे मेरी बतसिया कहारिन अपने घर उठा ले जाती थी। उसके यहाँ मैं बासी भात और मट्ठा खाकर वहीं सो जाता था। अपने घर के पकवान मुझे अच्छे नहीं लगते थे, मैं घर के पकवान ले जाता था, तो उस मोहल्ले के बच्चों को बाँट देता था। वे लोग बेर तोड़ लाते थे और सूखी-सूखी रोटियाँ। तो ये चीजें मैं प्रेम से खाता था।

क. प्र. : मूल संवेदनाएँ आरम्भ से ही उस ओर रही हैं—स्वाभाविक ढंग से?

केदार जी : हाँ, क्योंकि देहात का वातावरण था। वहाँ चाहे जितने पैसे वाले हों, साधारण जिन्दगी से सम्पर्क होता ही है। स्वभाव यदि इस तरह हुआ, तो आभिजात्य से तुरन्त मुक्ति मिल जाती है।

क. प्र. : कविता के ऊपर, मुझे ऐसा लगता है कि बहुत सारे प्रभाव पड़ते हैं और इन्हीं वास्तविक प्रभावों के कारण कवि विकास करता है। राजनीति का भी प्रभाव पड़ता है, बदलती हुई राजनीति का। इसी के साथ आदमी का अनुभव बढ़ता जाता है। लेकिन एक और प्रभाव सबसे महत्त्वपूर्ण होता है—समीक्षा का। तो आप जब कवि के रूप में सामने आये, तो वह समीक्षक, जिसने सबसे पहले आपकी कविता की समीक्षा की? क्या आपके ऊपर पड़नेवाले तमाम प्रभावों के अन्तर्गत यह एहसास है कि किसी समीक्षक का भी आपके ऊपर असर पड़ा?

केदार जी : कविता के विषय में मेरी बातचीत रामविलास शर्मा से होती थी। जब मैं लखनऊ जाता, तो अपनी कविताएँ उन्हें सुनाता। वे कीट्स, शैली, मिल्टन के बारे में बातें करते थे, शेक्सपीयर के बारे में भी, वे अपनी थीसिस लिख रहे थे—उनसे डिस्कशन होता था। मैं इतना पढ़ा तो था नहीं—इसलिए ज्यादातर उनकी बातें सुनता रहता था। उनकी बातें सुनकर और फिर उन्हें पढ़कर मैंने जाना कि अच्छी कविता क्या होती हैं। संसार में जो अच्छी कविताएँ लिखी गयीं, उनके क्या गुण हैं? साथ में निराला जी तो थे ही—उनकी पकड़ देखी। मैं देखता रहता था कि कैसे लिखते हैं? उस तरह मैंने ज्यादा सीखा, बजाय समीक्षा के, मेरे जमाने में ऐसा कोई समीक्षक नहीं मिला, जो मेरे बारे में लिखे और मैं उसकी बात मान लूँ। मैं तो पूरी तरह से जमीन और जिन्दगी से जुड़ा हुआ था। मेरा दृष्टिकोण मानववादी था। इतना जानता था कि आदमी को बेईमान नहीं होना चाहिए, किसी को छलना नहीं चाहिए। जैसे-जैसे राजनीतिक चेतना बढ़ी, व्यवस्था के दोष गहराई से समझ में आते गये और कविता के बारे में यह मालूम हुआ कि क्या होना चाहिए, क्या नहीं—तो रोजमर्रा की बातों को भी कलात्मक ढंग से लिखना शुरू किया। मैंने जाना कि कविता के साथ भी खूब मेहनत करनी चाहिए—तभी वे टिकाऊ हो सकती हैं। पहले मैं मैथिली शैली में इतिवृत्तात्मक कविताएँ लिखता था, पर जैसे-जैसे धीरे-धीरे कला के संस्कार मिलते गये, वह शैली छूटती गयी। कविता के

साथ जहाँतक मेरे दार्शनिक दृष्टिकोण या विचारधारा का सम्बन्ध है, मैं सक्रिय रूप से उसकी राजनीति में भाग तो लेता नहीं था, पर व्यवस्था को देखकर जो मुझे गुस्सा आता, तो मैं उसे उसी विचारधारा से समझता था। यह तो जानता ही था कि ये सब बातें सीधे तरीके से व्यक्त करने से कुछ नहीं होगा। मैं अपने आब्जेक्ट तक पहुँचने के लिए, अपने वर्ष तक पहुँचने के लिए निरन्तर मानसिक संघर्ष करता था। मैं कवियों से कहता हूँ कि कविता में इसी तरह की कोशिश कीजिए—चाहे लक्ष्य तक पहुँच पाएँ या न पहुँच पाएँ, लेकिन डायरेक्शन आपका वही होना चाहिए। जैसे मैं खेत देखता हूँ, किसानों की फसल खड़ी है—लोग काट ले जाते हैं, तो सोचता हूँ कि अगर ये बातें इस कलात्मक ढंग से व्यक्त करूँ कि इनका प्रभाव पड़े। कलात्मक अभिरुचि का अर्थ यह नहीं कि मैं कलावादी हूँ। मैं कलावादी हो ही नहीं सकता, क्योंकि मेरा प्रधान क्षेत्र जिन्दगी और जमीन है। प्रश्न केवल प्रभावशील बनाने का है।

क. प्र. : रामविलास शर्मा या निराला ने कभी आपकी कविताएँ पढ़कर आपके सामने उनका विश्लेषण किया, आपके सामने कभी ऐसा हुआ क्या?

केदार जी : नहीं, ऐसा कभी नहीं हुआ। निराला जी ने एक बार जरूर कहा था कि केदार अगर दो घण्टे रोज कविता को दो, तो कमाल हो जाय। बैण्डन होटल में चाय की चुस्की लेते हुए उन्होंने कहा था कि तुम अच्छी कविता लिखोगे। जहाँ तक रामविलास जी का सम्बन्ध है, वे हमें क्रिटिसाइज ज्यादा करते थे। सामने हों या पत्रों में, कविता के बारे में वे हमेशा यही कहते थे कि अभी अच्छी कविता नहीं लिखी। और अच्छी लिखो।

क. प्र. : मैं मानता हूँ कि कविता के विकास में रचना और आलोचना का द्वन्द्व लगातार रचनाकार के दिमाग में चलता रहता है। नकारात्मक ढंग से बिना कविता को समझे भी यदि लोग समीक्षा लिखते हैं, तो भी कवि उद्वेलित होता है। यह द्वन्द्व रचनाकार के विकास में प्रभाव डालता है। आपकी कविताओं को भली-भाँति समझते हुए या बिना समझे पक्ष-विपक्ष में ऐसी कौन-सी पहली समीक्षा देखने को मिली, जिसमें आपकी कविताओं पर बातचीत हो। कुछ याद है आपको?

केदार जी : मुश्किल यह है कि मैं बाँदा में था। वहाँ कोई कविता की अच्छी पत्रिका आती नहीं थी। नया साहित्य छपा, तो वही आ जाता था या कहीं हमने लिखा तो उस पत्रिका का अंक आ जाता था। मैं बाद में इलाहाबाद में भी नहीं रह सका, इसलिए यहाँ जो भी होता रहा, मुझे जानकारी नहीं मिल पाती थी। मेरा पत्र-व्यवहार रामविलास से होता था या अमृतराय से। अमृतराय मेरे खूब समर्थक थे, जो लिखता छापते जाते। त्रिलोचन शास्त्री, जब हुए, तो उन्होंने भी प्रोत्साहित किया। एक बार हमने सुना कि हमारी कविता में औरत को पुरुषों के साथ संघर्ष के लिए निकलने की भावना को लेकर, उस समय कुछ लोगों ने काफी विरोधी किया। देशदूत के सम्पादक ने तो लिखा कि यह आदमी बहुत खराब लिखता है। हम देशदूत की राजनीति जानते थे,

इसलिए और प्रभाव नहीं पड़ा। इससे ज्यादा किसी समीक्षा से हम अवगत नहीं हुए। हमको तो एक दिशा पहले ही मिल चुकी थी। निराला की काव्य-साधना और हमारी कविता की दिशा का इसी से विकास हुआ। हमारी कविता को एक्नालाइज कोई नहीं करता था। रामविलास जी कीट्स के प्रशंसक थे, मैंने पढ़ा, तो मैं भी प्रशंसक हो गया।

धीरे-धीरे मैं मार्क्सवादी साहित्य को गहराई से पढ़ता रहा और मेरी मानसिकता विकसित होने लगी। भावुकता कम हुई। शब्दों में सत्य को पकड़ता रहता, विवेकपूर्ण तर्क करता। यकीन मानिये कि अभी तक जितने लोगों ने लिखा है, किसी ने भी यह नहीं बताया कि कविता की जान क्या है? कविता का गठन, थोड़े शब्दों का चुनाव-उनके पीछे छिपा सतय–किसी ने उद्घाटित नहीं किया। जैसे कोई मजदूर पर कविता लिखे, तो समीक्षक कहेगा जनवादी कवि है, अच्छा कवि है, मार्क्सवादी है। प्रेम कविता पर समीक्षक ने कहा कि यह मार्क्सवादी नहीं है–प्रेम कविताएँ लिखता है। आप बताइये कि इस तरह की समीक्षा का क्या हो? कैसा उसका प्रभाव पड़ेगा? मैं तो सत्य पकड़ने के लिए संघर्ष करता था, जब यह सोचता था कि उसको व्यक्त कर पाने में समर्थ हूँ, तो उसे लिखता। जैसा आपने कहा कि रचना के स्तर पर आलोचना भी अपने-आप होती रहती है, यह ठीक है। मैं खुद अपनी आलोचना लगातार करता रहा हूँ। मेरा विचार है कि यदि कोई ऐसा नहीं करता तो वह पिटी-पिटाई कविता लिखेगा। वह नासमझी की इतिवृत्तात्मक कविता लिखेगा। वह युग से नहीं जुड़ सकता। कविता में एक रोमान्स होता है, शुरू से अबतक मेरा कविता से चला। मैं उसी में डूबा रहता था। कविता दिनों तक मन में घूमती रहती, पंख फैलाये उड़ती रहती, कवि भी उसी में उड़ने लगता है। हरिण की तरह वह भी कविता के साथ मेहनत करता है, जीवन-दर्शन उसके पास है, तो वह विकास करता है। आलोचक को डटकर आलोचना करनी चाहिए–कवि को खुद आत्मालोचन करना चाहिए। महीनों के मानसिक आलोड़न-विलोड़न से कविता बनती है। उसे बार-बार बनाना पड़ता है, जबतक पूरा सत्य पकड़ में न आ जाये।

क. प्र. : आपकी बातचीत से लगा कि कवि के लिए आलोचना दो स्तरों पर काम करती है। एक तो आलोचक क्या लिख रहे हैं उसके बारे में। और दूसरी बात यह है कि कवि स्वयं अपने विकास के सन्दर्भ में–दूसरे-दूसरे कवि और आलोचकों को पढ़कर जो आत्मालोचन करता है। आत्मालोचन का महत्त्व बहुत है। आपने नाम लिया नेरूदा, कीट्स, लेनिन, निराला, रामविलास शर्मा, आदि का। आपने इन सबको पढ़ा और अपनी कविता की पड़ताल की। तय हुआ कि आपके विकास की ज्यादातर प्रक्रिया आत्मालोचन की रही है। बाहरी जगत् से आनेवाली आपकी कविताओं की समीक्षा का आप पर प्रभाव कम पड़ा है।

केदार जी : कम क्या, बिल्कुल नहीं पड़ा है। मुझे जितना निराला प्रभावित करते हैं, उनको पढ़ने के बाद जितना प्रभाव ग्रहण करता हूँ–उतना दूसरों से नहीं। एक-एक कविता को तौलता हूँ उस वजन में। दूसरों की कविताओं में भी कृतित्व ही देखता हूँ।

इसलिए मेरा ध्यान कृतित्व-प्रेमी है—आलोचना-प्रेमी नहीं। मेरी कोई प्रशंसा करे, तो मैं खुश नहीं होता। मैंने पहले ही कहा न कि मरने के पहले जितनी चेतना अपने इस छोटे-से शरीर में विकसित कर सकें, करना चाहता हूँ।

क. प्र. : हिन्दी में रचना और आलोचना का समानान्तर विकास नहीं हो पा रहा है। छायावाद हो या प्रगतिवाद, रचनाकारों को हमेशा समीक्षकों से शिकायत रही है। बहुत-से कवियों को शिकायत रही है कि समीक्षकों ने उनके साथ न्याय नहीं किया। यही शिकायत समीक्षकों से, क्या आपको भी है?

केदार जी : मुझे ऐसी खास शिकायत नहीं रही। हाँ, यह जरूर कहता हूँ कि हमारे पुराने जमाने के जो समीक्षक थे, उनकी तेज-तर्राक समझ नहीं थी। वे कविता की बारीक समझ नहीं रखते थे, जिससे वह समझते कि क्या है कविता में, क्या नहीं है और क्या होना चाहिए। समीक्षा की एक रटन्त परम्परा चली आ रही है, उसी से वे हर रचना पर बात करते रहे। भाषा पर कुछ बातचीत कर ली, बस। मैं उन्हें कहता हूँ कि वे चाहे जैसा लिखें, खूब लिखें। उनकी प्रशंसा से मेरी कविता में कोई सुधार नहीं होगा। इसीलिए तो मैं कृति-प्रेमी हूँ न। जानता हूँ कि मैं अच्छा तभी लिख सकूँगा, जब मैं उसमें कृतित्व के सारे लक्षणों को देख लूँगा। मैं अपनी रचना-प्रक्रिया के अनुसार अपनी समर्थ शब्दावली में लिखूँगा। नासमझी की बोल-बातों से मैं पराजित नहीं होता। मैं जनसत्य के अलावा किसी से पराजित नहीं होता-आलोचक से पराजित होने का प्रश्न ही नहीं।

क. प्र. : आपने कविता में रचना-कौशल पर काफी जोर दिया। इस स्थिति में शिल्पवादी प्रभावों से बचना भी काफी सतर्कता का काम है? आप कैसे बचा लेते हैं?

केदार जी : रचना में कथ्य और शिल्प दोनों को अलग-अलग करके नहीं देख सकते। अज्ञेय वगैरह ने यह गलती की या जान-बूझकर उन्होंने यह किया। प्रगतिशील आन्दोलन को डाउन करने के लिए यह बड़ा षड्यन्त्र चलता रहा है। कथ्य को शिल्प से, जीवन को राजनीति से, समाज को आदमी से अलग कर देने का। व्यक्ति को अकेला ठूँठ की तरह खड़ा कर देने का। जो आदमी सतर्क है—वह इस खतरे को पहचान लेता है। प्रश्न यह जरूर है कि हम जो बात करना चाहते हैं, वह जितनी अच्छी तरह से कहेंगे, आप उसे उतनी ही अच्छी तरह से पसन्द करेंगे। पसन्द करने के बाद ही आपकी मानसिकता बदलेगी। मसलन गुलाब का फूल है, उसको लेकर हजार तरह से लोगों ने कहा, पुराने, नये सभी ने। सभी भाषाओं में, उमर खय्याम ने भी, बच्चन ने भी कहा। सब अपनी-अपनी तरह से। सवाल यह है कि शिल्प भी स्थायी नहीं होता और न कथ्य ही। सबका ऐतिहासिक विकास-क्रम है। इस ऐतिहासिक विकास-क्रम में खूबसूरती है, चतुरता है, बुद्धिमत्ता है। यह कि हम ऐसी-ऐसी चीजें दें, जो अभी तक नहीं दी गयीं। साहित्य में जो अभी तक नहीं आयीं। शिल्प और कथ्य को इसीलिए साथ-साथ लेकर चलना जरूरी होता है।

क. प्र. : रचना-प्रक्रिया में कथ्य और शिल्प का भी द्वन्द्वात्मक रिश्ता होता है, यही बात शायद आप कह रहे हैं?

केदारजी : हाँ, कविता की रचना-प्रक्रिया में दोनों साथ-साथ चलते हैं। जो कथ्य मेरा है, वह भी रचे जाने के पूर्व मेरे सामने पूरी तरह स्पष्ट नहीं रहता। कविता लिखने के लिए जब भावातुर होता हूँ, तो कथ्य किसी-न-किसी आकार में सामने आता है, उस कथ्य और आकार में फिर-फिर सुधार होता है, संघर्ष होता है और इसी तरह विकास होता है। यह प्रक्रिया एक दिन में या दस दिन में, जितने समय में सम्पन्न होती है, एक मूड चलता रहता है। इस दौरान कथ्य भी अपना रुख बदलता रहता है, कभी-कभी तो रचे जाने पर बिल्कुल दूसरा हो जाता है। इसे यों कहें कि मान लीजिए, एक बच्चा है, भाषा उसके पास है, तुतलाकर माँ या मम कहता है। वह पानी या कुछ भी माँगता है। उसके पास शब्द का एक टुकड़ा होता है, जिसमें वह कहता है। औरों की नजरों में वह कह नहीं पाता। पर माँ उसे समझ लेती है। कविता की स्थिति यही होती है। जब हम कोई बात कहना चाहते हैं, राजनीति में या और जगह काम करनेवाले लोगों की मानसिकता बदलने के लिए—तो हमें शिल्प का चुनाव करना पड़ता है। नगर की बदमाशी, घूस या भ्रष्टाचार या नदी के बारे में, कविता लिखते हैं, तो उस कथ्य का विश्लेषण चलता रहता है। जब हम पूरे आब्जेक्ट को पकड़कर तैयार हो जाते हैं मानसिक प्रक्रिया में, तो वह ऐसी चीज बन जाती है, जो लोगों को पसन्द आये। बच्चा बड़ा हुआ, तो रोने में फर्क आ गया। कवि प्रौढ़ हुआ, तो उसका कथ्य और शिल्प दोनों विकसित हुए। यह विश्लेषण आत्मालोचन और रचे जाने की द्वन्द्वात्मक क्रिया है। कविता की तीन पंक्तियाँ तैयार होती हैं, पर इसके पूर्व न जाने कितनी पंक्तियाँ बेकार सिद्ध हो जाती हैं।

क.प्र. : रूपवादी कहते हैं कि एक समय के बाद रूप-तत्त्व पुराने पड़ जाते हैं, इसलिए उनकी जगह नये रूप-तत्त्वों का चुनाव जरूरी होता है। इसे वे रचना के विकास के अर्थ में ही कहते हैं। आपकी क्या राय है?

केदार जी : इस बारे में मैं बहुत-कुछ कहना चाहता हूँ। मैं कह चुका हूँ कि मैं शिल्प को भी ऐतिहासिक विकास-क्रम में देखता हूँ, जहाँ बिल्कुल छोड़ देना असंगत है। अज्ञेय ने कहा कि उपमान मैले हो गये, झूठे हो गये, इसलिए बेकार हो गये। इस तरह प्रतिमानों को रिजेक्ट करने की बात गलत है। हम या हमारे बच्चे परम्परा के समाज से आ रहे हैं, उस तरह का साहित्य पढ़ रहे हैं, सिनेमा देखते हैं, तो उन्हें वे ही उपमाएँ मिलती हैं, उन्हीं के संस्कार उनमें बन जाते हैं। संस्कार बन जाने पर उन उपमानों से उनका सम्बन्ध-तत्त्व भी जुड़ता है। ये उपमान हमारे लिए प्रभावशील भले न हों, पर वे जो उस वातावरण में हैं, जिनकी संख्या ज्यादा है, कैसे उनसे छूट सकते हैं? उनकी जिन्दगी में जब रोमान्स पर अन्य सम्बन्ध उपस्थित होते हैं, तो वे उन उपमानों का प्रयोग करते हैं पूरे सम्बन्ध बोध के साथ। हाँ, यह ठीक है कि हमारा नाता बदले, समाज बदले, स्थितियाँ बदल जाएँ। हमारा विकास तेज हो और तब हम ऐसा

नया रूप-तत्त्व गढ़ें, तो वह विकास हुआ। कथ्य के बदल जाने पर रूप-तत्त्व का बदलना ठीक है। एकान्त में कुछ निर्णय लेना उचित नहीं। ऐतिहासिक क्रम से आगे बढ़ने पर ही हमारा साहित्य आगे बढ़ेगा।

क. प्र. : यह तो सही है कि कथ्य में व्यापक परिवर्त्तन होने से ही लोगों के रागात्मक सम्बन्ध बदलते हैं। जैसे पहले मुख के सौन्दर्य के लिए चाँद की उपमा प्रचलित थी। उधर चाँद के बारे में प्रायः सभी की जानकारी बेहतर हो गयी। अर्थात् चाँद की परिस्थिति बदल गयी, संवेदनाएँ बदल गयीं, तो रूप-तत्त्व अपने-आप बदल जायगा। इस बदलाव की पहचान पाठकों में अनिवार्यतः हो जायगी।

केदार जी : परिस्थितियाँ कितनी बदलती हैं। पढ़े-लिखे और विद्वान् आदमी की जरूरत बदल जाती है, उनमें भी पूरी तरह से नहीं। देखिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के उपलब्ध होने के बावजूद हिन्दुस्तान के हजारों लोग अभी भी फालतू की बातों में मशगूल रहते हैं। अभी भी वे चन्द्रमा को खूबसूरत कहते हैं। इतनी बातें सुनकर बच्चों के रागात्मक सम्बन्ध उसी तरह बन जाते हैं। जवान आदमी तो जैसे बदलना ही नहीं चाहता। इस तरह रूढ़िवादी परम्परा से लोग चिपके रहते हैं। कला का काम यही तो है कि वह लोगों की वस्तुओं के साथ सम्बन्धों का पता लगाये और नये-नये उदित होते सम्बन्धों की ओर उन्हें संक्रमित करे। यह काम एक झटके से या कुछ लोगों के फैसलों से नहीं होता।

क. प्र. : एक-एक चीज से अलग-अलग रागात्मक सम्बन्ध बदलते हैं या कुछ खास सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से रागात्मक सम्बन्धों में परिवर्त्तन आता है?

केदारजी : रागात्मक सम्बन्धों के बदलने की पहचान जनता से होती है। कवि जबरदस्ती नये सम्बन्ध जोड़कर रचना नहीं बनाता। उसे देखना चाहिए कि क्या वे परिस्थितियाँ हैं, जिनसे जनता नये सम्बन्ध महसूस करती है और हमारे जोड़ को वह स्वीकार कर लेगी। किसी कवि या लेखक का यह ध्येय तो नहीं हो सकता कि वह रूपक या उपमाओं की प्रदर्शनी लगाना चाहता है। असली बात तो यही रहेगी कि हमें कुछ बातें कहनी हैं। अपनी मानसिकता को दूसरों तक पहुँचाना है। इस ध्येय के लिए कवि उपमा का जादू नहीं पैदा करता। वह जो करेगा, अपनी बात के जरिये ही करेगा। यह पाठक को गूँगा बनाकर नहीं बैठता। वह पुराने से नये सम्बन्धों की ओर सामाजिक परिस्थितियों के साथ चलता है।

क. प्र. : गोर्की ने जिन्दगी के तमाम अनुभवों को जहाँ और जिससे सीखा—अपने कथ्य के विकास के लिए उस सबको उन्होंने मेरे प्रिय विश्वविद्यालय कहा है। जिन्दगी के अनुभवों को ही उसने इन्स्टीट्यूशन या विश्वविद्यालय कहा है। इसी तरह हिन्दी के कवि के लिए, उसकी कविता के विकास के लिए क्या जीवन के सीधे संघर्षों, अनिवार्यताओं, व्यापक धरातल की हलचलों से जुड़ने की जरूरत नहीं होती, इसके अलावा कथ्य का विकास और कैसे सम्भव है?

केदार जी : देखिये और सोचिये कि अपनी हिन्दी के कवि, छायावाद से अब तक रचनाकार का कैसा विकास हुआ है? जितने कवि हुए, उनकी जिन्दगी के माध्यम अथवा प्राथमिकताएँ क्या हैं? जहाँ तक गोर्की का सवाल है, वह साहित्य के माध्यम से नहीं आया। वह जिन्दगी की कविता करता रहा है। वह सीधे व्यापक जीवन के संघर्षों से जुड़ा रहा, अवगत रहा। हमारे यहाँ जो साहित्य है या लिखा जा रहा है, उसमें इसका अभाव है; इसीलिए ज्यादातर मध्यवर्गीय स्थितियाँ ही मिलती हैं उसमें। उसमें जन-जीवन नहीं मिलेगा, उसकी कला नहीं मिलेगी या काम नहीं मिलेगा। जो जितना जन-जीवन से निकलकर आता है, वह उतना ही संवेदनशील होता है गोर्की की तरह। मेरी धारणा यह है कि हमारे यहाँ भी जितना सचेत और जागरूक, संवेदनशील वह रचनाकार होता है, जो जनता से आया है, उतना कोई और नहीं। जैसे बाबा नागार्जुन का उदाहरण है। उनकी कविताओं में वही बातें मिलती हैं, जो जन-आन्दोलन में उभरती हैं। वही प्रतीक, उपमान और मुहावरे वे प्रयोग करते हैं। अपने बारे में कहता हूँ कि मैं जीवन के माध्यम से नहीं, साहित्य के माध्यम से आया हूँ। फिर मैंने जीवन का साहित्य पहचाना और जीवन की पहचान मार्क्सवाद ने करायी। मार्क्सवाद ने ही बताया कि जीवन क्या है, उसका उद्देश्य क्या है। इसीलिए मेरी और बाबा की कविता में अन्तर होगा, यह हो ही जायेगा।

क. प्र. : साहित्य के माध्यम से आने पर वह खतरा क्या नहीं बना रहता कि कवि साहित्य में प्राप्त संवेदनाओं, वर्ग-विशेषताओं को जीवन में खोजता है; वही संवेदनाएँ उसमें विकसित होती रहती हैं, वह जीवन को उन्हीं के माध्यम से परिभाषित करता है। विशेषकर साहित्य की उस परम्परा के होने से, जो यथार्थ से कटी हो। इस उल्टे विकास में कवि रूपवादी हो जाता है। क्या यही कारण है कि लोगों ने आपके रूपवादी होने का आरोप लगाया है? जहाँ तक मैं सोचता हूँ कि मार्क्सवादी कला की गम्भीरताओं को न समझनेवाले लोग, यह आरोप लगाते हैं।

केदार जी : मुझे रूपवादी कहनेवाले दो तरह के लोग हैं। पहले वे, जो अपेक्षा करते हैं कि मैं सक्रिय रूप से उनके आन्दोलन का अंग बन जाऊँ और गरमा-गरम राजनीति की कविताएँ लिखूँ। दूसरे वे लोग हैं, जो नासमझ हैं या हमें गिराना चाहते हैं। जो मार्क्सवादी कला को पराजित करना चाहते हैं। हमारे गैर समझदार लोग मुझे भी अज्ञेय की श्रेणी में फेंक देना चाहते हैं, ताकि मैं तुरन्त मर जाऊँ। यह षड्यन्त्र है। भाई, हमें कला को श्रेष्ठ बनाये रखने के लिए इन सभी खतरों से सावधान रहना चाहिए।

क. प्र. : क्या मार्क्सवादी भी आप पर रूपवादी होने का आरोप लगाते हैं?

केदार जी : जरूर लगाते हैं? सोचिये कि रूपवादी आरोप लगाने के कारण क्या हैं? मेरी कविताएँ देखिये शुरू से लेकर—मैंने नींद के बादल कविता लिखी। युग की गंगा लिखी। कली पर लिखा, बबूल पर लिखा। किसान की धरती पर लिखी। क्या मेरी कविताएँ बुनियादी रूप से जमीन से जुड़ी हुई नहीं हैं। हाँ मेरी प्रवृत्ति यह जरूर

रही है कि मैंने कविता के विषय के रूप में जो कुछ उठाया, उसे स्थायित्व देना चाहा। वह कथ्य और रूप को अभिन्न बनाने की कोशिश है। इसे रूपवादी नहीं कह सकते। रूपवादी तो एक कोरा तथ्यहीन बाजीगरी है, जिसका मेरी कविता से कोई मतलब नहीं। मेरी कविता का कथ्य हमेशा ऊपर-ऊपर बोलता है। रूपवादी रचना में रचनाकार का निजी अहं प्रधान रहता है। वह भाषा को लेकर आन्दोलन खड़ा करता है। मार्क्सवादी होने के बाद मैं रूपवादी हो ही नहीं सकता। यह तो पूरा आन्तरिक आपरेशन है। आपरेशन हो जाने पर रूपवाद कहाँ? मेरी मान्यता यह जरूर है कि कविता में यथार्थ के धरातल को छुए बगैर नहीं लिखना चाहिए। कोई नहीं छूता तो मैं छूऊँगा। मेरी ललक यह नहीं रहती कि कोई क्या कहेगा? मैं तो सोचता हूँ कि कोई ठोस उपलब्धि हाथ लगनी चाहिए। इससे हिन्दी-साहित्य समृद्ध होगा। यह जान लीजिए कि मार्क्सवादी की स्वीकृति मेरे लिए केवल विचारधारा के स्तर पर नहीं है, वह संवेदनाओं में घुल गया है। आरोप लगानेवालों पर मुझे सन्देह होने लगता है, उनकी समझ पर।

क. प्र. : एक बात बताइये, दुनिया के मार्क्सवादी कवियों में नेरूदा का नाम महत्त्वपूर्ण है। लोर्का, ज्यूलियस फ्यूजिक भी हैं। ये सीधी राजनीति से जुड़े रहे हैं। इस जुड़े होने के कारण ही इनकी कविता में तेज है, एक आक्रामक शक्ति है और व्यवस्था को बदल डालने के लिए तेजस्वी भाषा इनके पास है। क्या इतना तेज होने के लिए, कविता की इतनी पैनी भाषा के लिए सीधी राजनीति से जुड़ना जरूरी है, रचनाकार के लिए?

केदार जी : इन लोगों में, जीवन के ज्यादा निकट रचनाएँ पाब्लो नेरूदा ने की हैं। पहले उन्होंने अस्तित्ववादी कविताएँ कीं। तब जीवन को पकड़ने की दृष्टि उनकी मजबूत नहीं थी। वे धीरे-धीरे जनता के सामने आये, फरार हुए और यथार्थ के बिल्कुल पास आ गये। तब उन्होंने घोर राजनीतिक कविताएँ लिखी। विकास-क्रम में उनकी कविताओं में साफ अन्तर नजर आता है। शुरू की कविताएँ रोमान्स की भी थीं। जाहिर है कि वे भी सीधे जनता से नहीं, साहित्य से आये। उस समय जीवन के प्रति उनके स्पन्दन रोमाण्टिक होते थे। उनको इतना जटिल बनाकर लिखते थे कि वह आर्टिफिशियल हो जाता था। बाद में नेरूदा ने सीधी राजनीति पर ही सारी कविताएँ नहीं लिखीं। 'शब्दों' जैसे विषयों पर भी लिखा है। पार्टीवाले लोग उनकी केवल सीधी राजनीतिक चेतना की कविताओं को उछालते हैं। अनुवाद होते हैं, जनयुग में छपे हैं। उनकी सभी तरह की कविताएँ आयें, तो बात समझ में आये। मेरी कविताओं के गुण भी समझ में आयें। जरूरी नहीं कि कोई मार्क्सवादी अन्य तमाम विषयों पर न लिखे। यहाँ कोई ब्रह्मवाक्य नहीं होता। परिस्थितियों के अनुसार कविताएँ लिखी जाती हैं। कोई अन्तिम बात केवल मनमाने के लिए मत कहिये। मार्क्सवाद से जुड़ने पर देखिये कि वह कवि किस गहराई में जाता है। मयाकोव्स्की के साथ क्या हुआ—ठीक मेरी तरह। जैसे-जैसे उनकी समझ विकसित हुई, राजनीति से जुड़ते गये और तेज कविताएँ

लिखीं। परिस्थितियों की जैसी माँग थी, वैसी रचनाएँ लिखीं। उनकी बहुत अच्छी कविताएँ वे भी हैं जो सीधे राजनीति से नहीं जुड़तीं। यह तय है कि कविता राजनीति के प्रभाव ले सकती है, लेना चाहिए, लेगी ही। पर कविता राजनीति नहीं हो सकती। कविता का प्रभाव राजनीति के रूप में नहीं जुड़ता, वह कविता के रूप में ही पड़ता है। जैसे नदी हम जो बनाते हैं, वह दूसरी होती है नदी होकर भी, उसी तरह राजनीति जो हम बनायेंगे, वह दूसरी होगी, राजनीति होकर भी। राजनीति का काम है बाहरी व्यवस्था बदलना—आर्थिक, सामाजिक कविता का काम है—सांस्कृतिक परिष्कार, पाठकों की मानसिकता बदलना। ठीक है कि दोनों में विरोध नहीं, पर दोनों के क्षेत्र तथा रूप (Form) अलग-अलग हैं। कविता की प्रशंसा अकेले कथ्य से नहीं की जाती, उसकी रचना से भी होती है।

क. प्र. : इस बीज में जैसे मानसिंह राही, रमेश रंजक, कन्हैया जी की तरह के कवि हैं, जिन्होंने सीधी राजनीतिक कविताएँ लिखीं हैं—बाबा ने भी, इनका भी जीवन-दर्शन मार्क्सवाद है और उनकी कविताएँ प्रत्यक्ष रूप से जनता के बड़े हिस्से में प्रभाव डालती है, व्यवस्था-परिवर्त्तन में लगे उत्साही कार्यकर्त्ताओं को शक्ति मिलती है—इस प्रकार की कविताओं के बारे में आपकी क्या राय है?

केदार जी : मेरी समझ में ये जरूरी कविताएँ हैं, लिखी जानी चाहिए। मैं कहता हूँ कि जैसे रहीम के दोहे, गिरधर की कुण्डलियाँ या और भी नीति की कविताएँ जरूरी हैं, टिक सकती हैं। तो ये कविताएँ भी जरूरी हैं। जीवन का हर कोना प्रकाशित होना चाहिए। अगर आप आन्दोलन से जुड़े हैं, तो आन्दोलन से प्राप्त अनुभव और आन्दोलन को तीव्र करने के लिए कविताएँ लिखनी चाहिए। इसकी अनिवार्यता को मैं अस्वीकार नहीं करता। मेरी राय में तो ये कविताएँ सीधे शेर की खोपड़ी में निशाने की तरह बैठनी चाहिए—अचूक। ऐसे कवियों में भी गम्भीर समझ चाहिए। केवल हल्ला मचाने से कुछ नहीं होगा। कितने कवि ऐसे हैं, जो केवल शोर पैदा करते हैं। राजनीति का हल्ला-बिना मारक प्रभाव के किस काम का? यदि इस तरह की कविताएँ समझदारी के साथ प्रवेश करें, तो वे स्वागत योग्य हैं। मैं नहीं लिख पाता, तो इसका अर्थ यह नहीं कि मैं ऐसी कविताओं की जरूरत से इन्कार करता हूँ। यह तो मानसिकता बनने की बात है, जिसकी जैसी बने, वह उसी तरह की कविताएँ लिखे-इस दिशा में।

क. प्र. : जनता की भावनाओं को विकृत करने में आज के कवि-सम्मेलन भी काफी हद तक उत्तरदायी हैं। मेरे विचार से सच्ची जनवादी कविता या विकल्प सामने आना चाहिए। उससे साधारण जनता की मानसिकता का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है?

केदार जी : यह सही है कि जनता निराला, प्रसाद और मुक्तिबोध को समझ नहीं सकती। वह मुझे भी नहीं समझती। इनकी बातें तो जाने दीजिये, अच्छी कविताएँ बच्चन की भी नहीं समझते। ऐसे लोगों से कलात्मक कविता की प्रेषणीयता की आशा नहीं कर सकते। जहाँ तक उनकी मानसिकता को बदलकर समृद्ध करने की बात है, तो

भाई मुख्य बात यह है कि वह काम पार्टी का है। योजनाबद्ध तरीके से पार्टी को यह काम करना चाहिए। जनता को एक करना, आन्दोलित करना—यह सब वहीं से होना है। दुर्भाग्य यह है कि वह काम कोई पार्टी नहीं कर रही है। जब हम लिखते हैं, तो पार्टी के लोग कहते हैं कि वह आपने क्या लिख दिया, जो पल्ले नहीं पड़ता। जनता के लिए लिखने की माँग तो ठीक है, पर उसे संयोजित कौन करे पार्टी ही न। मैं तो पार्टी को ही दोष दूँगा। उस जमाने में जैसे-जैसे आन्दोलन सक्रिय होता था, हम लोग उसे कविताओं के जरिये तीव्र करते थे। आंचलिक भाषाओ बुन्देली वगैरह में भी लिखते थे। बम्बई-आन्दोलन में ऐसा ही हुआ। पर आपका आन्दोलन मर गया, तो हम मर गये। मास एजुकेशन के लिए ऐसी रचनाएँ आवश्यक हैं, पर जान लीजिये कि रूस की क्रान्ति मयाकोव्स्की के कारण नहीं हुई, लेनिन के कारण हुई। कोई कवि या इण्टलेक्चुअल चाहे वह लोर्का, पाब्लो नेरूदा, नाजिम हिकमत जो भी हों, चाहे जो कहें-क्रान्ति की अगुआई या संयोजन वे नहीं करते। आप आशा कर सकते हैं कि कवि राजनीतिक नेता हो गये। वह प्राइममिनिस्टर होकर अच्छी कविताएँ लिखे ऐसी कि चारों ओर फैले दुश्मन परास्त हो जायें। भाई जी कर्म का फार्म बदल जाता है। गति आपके मस्तिष्क की दूसरी ओर मुड़ जाती है।

क. प्र. : साहित्य का काम क्या वर्ग-संघर्ष नहीं होता? वर्ग-साहित्य के प्रति आपकी क्या राय है?

केदार जी : वर्गभेदी समाज जहाँ है, वहाँ वर्ग-साहित्य आयेगा। जन-साहित्य उसके लिए होगा—जिन्हें सुधारना है, संगठित करना है, अधिकार बताना है और शोषक वर्ग से संघर्ष की तैयारी करनी है। साहित्य उन्हें भी प्रभावित करता है, जो सामाजिक संघर्ष के काम में सीधे जुड़े हैं। इससे उनकी भी गलत मानसिकता नहीं बनेगी।

क. प्र. : परम्परा काव्य में कभी-कभी कवि और सामाजिक कथ्य के बजाय रूढ़ियाँ और पौराणिक मिथ लोकप्रियता के आधार होते हैं। मसलन तुलसी के बारे में राम का कथ्य जो विभिन्न परम्पराओं, आख्यानों से प्रचारित है—इतना लोकप्रिय है कि तुलसी की कविता भी उसी में समा गयी। मैं यह नहीं मानता कि वह समूची लोकप्रियता कवि की है, उसमें से अधिकांश रूढ़ियों का है।

केदार जी : सही बात है। बहुत-सी बातें अन्धविश्वास से जुड़ी हुई हैं। लोग सोचते हैं कि राम का नाम लो उद्धार हो गया। कविता भी बन गयी और लोकप्रियता भी हो गयी।

क. प्र. : इसी से एक बात पैदा होती है, वह यह कि रचना में व्यक्ति की भूमिका, जिसे आप रचनाकार की भूमिका कहेंगे, अपनी दृष्टि में कितनी महत्त्वपूर्ण है।

केदार जी : रचना करनेवाले व्यक्तित्व की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। रचनाकार ने यदि अपने व्यक्तित्व को समाज से प्रभावित होकर बनाया है, उसके पास सही जीवन दृष्टिकोण है, उसका व्यक्तित्व संस्कारित (Cultivated) होगा। उसका विश्लेषण और संश्लेषण वस्तुपरक और प्रखर होगा। वह ऐसे रूपक बाँधेगा, जिससे

वस्तुसंसार प्रभावित होगा। विश्लेषण–संश्लेषण की भूमिका व्यक्ति की ही है। व्यक्ति में वस्तुवत्ता और आत्मवत्ता दोनों का द्वन्द्व होता है। कभी-कभी रचना में बाहर की वस्तु बहुत प्रभावित करती है और आत्मवत्ता नीचे रहती है। वह ऊपर नहीं आ पाती। कभी यह होता है कि आपका व्यक्तित्व (आत्मपरकता से मतलब) इनका अधिक होता है कि उसमें वस्तुवत्ता नहीं रहती। हमें देखना यह है कि जो क्रियावान् हुआ है–उसमें मुख्य स्थिति कहाँ व्यक्त हुई है। हमने जो वस्तुवत्ता तैयार की है, वह कहाँ तक रूपायित हुई है। वह वस्तुवत्ता गलत है या ठीक, खराब है या उपयोगी, नैतिक है या अनैतिक, दूसरों के हित की है या नहीं, राष्ट्रीय है या अन्तर्राष्ट्रीय, जो कुछ है वह व्यक्त कैसे हुई है? वस्तुवत्ता की प्रासंगिकता की पड़ताल आत्मपरक चीज है, यदि वह ठीक नहीं हुई है तो मतलब हुआ कि आपकी मानसिकता ठीक नहीं है, आपके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का निर्माण अधूरा है। कविता का मुख्य लक्ष्य यही होता है कि तैयार वस्तुवत्ता की अभिव्यक्ति कैसी हो? कैसे हो? यह आत्मपरकता और वस्तुपरकता का द्वन्द्व ही रचना-धर्म है। यही व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है। कह सकते हैं कि व्यक्ति एक नयी सृष्टि करता है। यह भारी काम है–एकदम दूसरी चीज बनाकर दे देना। उसका बनानेवाला माध्यम सक्रिय और चेतन माध्यम है। जड़ माध्यम नहीं है, इसमें खतरा वहाँ है, जहाँ व्यक्ति कथ्य पर हावी होना चाहता है। ऐसा व्यक्ति निरर्थक और बेकार हो जाता है।

क. प्र. : अपने युग की रचना और आलोचना के प्रत्यक्षदर्शी के नाते दोनों कर्मियों के लिए क्या दो-चार बातें कहना चाहेंगे?

केदार जी : मैं समझता हूँ कि ये दोनों कर्म गम्भीर अपेक्षाओं के हैं। दोनों के काम अलग-अलग हैं। रचनाकार जो है, वह नयी सृष्टि आपको देता है। वह आपके हाथों में अपनी सृष्टि सौंपते हुए आशा करता है कि आप उसे ठीक से पहचानें–लगभग उसी तरह। वह सोचता है कि जैसे उसने अनुभव किया है, प्रतीत किया है, वैसे ही दूसरा उससे ग्रहण करे। आलोचक को उसे एक पाठक की तरह एनालाइज करना चाहिए। और तब उसकी कमजोरियाँ देखनी चाहिए। रचनाकार जब रचनाकार होता है और एक महीने बाद भी कुछ समय बाद उसे पढ़ता है तो वह भी आलोचक हो जाता है रचना का। यहाँ रचनाकार और आलोचक एक धरातल पर आ जाते हैं। रचनाकार भी अपनी रचना की आलोचना कर सकता है और आलोचक तो करेगा ही। शिकायत पेशेवर आलोचकों से होती है या विश्वविद्यालयीय आलोचकों से, जिनका काम ही होता है, कायदों के अनुसार आलोचना करना। वे आलोचक परिस्थितियों के परिवर्त्तन को न तो पहचानते हैं और न ही पचाते हैं; वे बने-बनाये कायदों से सर्टीफिकेट बाँटते हैं। ये मृत सिद्धान्तों के बल पर चलते हैं। कविता की आलोचना उस समय होती है, जब वह सुनायी जाती या जब वह छपती है। यदि रचना अच्छी है, तो आलोचक को उसे स्वीकार करना होगा। उसे लाभ यह है कि जिस तरह या संघर्ष करके रचनाकार ने रचना बनायी है, उसे बिना संघर्ष के मिल जायेगी।

क. प्र. : लेकिन कविता को समझने के लिए अपनी आलोचना के फार्म में उसे उतना ही संघर्ष करना पड़ेगा या उससे ज्यादा?

केदार जी : आलोचक जीवन के संघर्ष, रचना के संघर्ष और आलोचना के संघर्ष से जूझेगा जरूर। वह रचना को, दूसरों को समझाने के लिए संघर्ष करेगा। आलोचक का काम रचना को खुद ही भर समझ लेना तो है नहीं। वह रचना को बोधगम्य बनाता है। वह तमाम आदमियों को रचना के सत्य से परिचित कराता है। उसका काम कैरियर रायटिंग से नहीं चल सकता। उसे निर्भय होकर कथ्य और शिल्प की बारीकियाँ पहचाननी होती हैं। उन्हें ही दूसरों को पहचान कराना होता है। वह पहचान सामाजिक और दार्शनिक दृष्टिकोण से होगी। रचनाकार कहाँ गलत है—यह बात उसकी समझ में तभी आयेगी। आलोचक में रचनात्मक संवेदना होनी चाहिए। यदि भूल के कारण रचनाकार प्रतिगामी विचारों की ओर झुक गया है, तो उसे समझाना चाहिए। स्वयं मार्क्स कवियों के साथ इस तरह की सहानुभूति रखने में हिमायती थे।

क. प्र. : हिन्दी में आप दो-चार आलोचक बता सकेंगे, जिनको आप रचना के सही पाठक कह सकें और जिन्होंने रचना के साथ ऐसा सम्बन्ध कायम किया हो, जिससे आलोचना के ठीक विकास में मदद मिली हो।

केदार जी : मेरे सम्बन्ध ज्यादातर रामविलास जी से ही थे। मैं उन्हें रचना और समीक्षा का विद्वान् समझता था। वे गलती भी करते थे, पर उनका लक्ष्य साफ था—जनता का हित। उनकी गलती इस तरह की थी कि जैसे किसान खेत की जुताई, निराई, खाद, पानी की गलती को हर बार ठीक करता है और खेती का काम करता है। उसके लक्ष्य में खोट नहीं होती। दूसरे अच्छे आलोचक नामवर जी थे—उनके बारे में क्या कहूँ? वे भी उन चीजों से जुड़े, जिनसे नहीं जुड़ना चाहिए। उन्होंने श्रीकान्त वर्मा जैसे कवियों को उछाला और हम लोगों पर बातचीत नहीं की।

क. प्र. : एक अतिरिक्त प्रश्न—इधर 60 के बाद जो प्रगतिशील कविता लिखी जा रही है, नये-नये ताजे कवि उभरकर सामने आये हैं, उनकी कविताओं को देखते हुए भविष्य के बारे में कोई बात कहेंगे?

केदार जी : हम लोगों के बाद जो नये कवि आ रहे है, उनमें से कुछ जरूर प्रतिभाशाली हैं। पर ज्यादातर ऐसे हैं, जो अनुभव को विस्तार नहीं देते। एक भीड़ की मानसिकता होती जा रही है, नयापन कुछ नहीं। वे टिकाऊ नहीं हो सकते। उनकी बड़ी क्रान्तिकारी रचनाएँ टाइप बन जाती हैं। वैसे चिन्ता की बात नहीं है। अच्छे कवि भी आ रहे हैं। वे कविता को खत्म होने से न केवल बचा रहे हैं, वरन् उसे ताजगी दे रहे हैं। उनको पढ़कर खुशी होती है। नये बोध और नये प्रयोग से कविता भरी जा रही है। कविता का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है।

❐

सवाल समकालीन साहित्य की स्तरीयता का?*

अ. त्रि. : बाबू जी! इधर आपने भी यह तो अवश्य ही महसूस किया होगा कि जीवन के मूल्यों के साथ-ही-साथ साहित्य के मूल्यों में भी एक व्यापक परिवर्त्तन आया है। साहित्य की पुरानी मूर्ति टूटी है, मान्यताएँ बदली हैं, क्षेत्र बदला है। कुछ लोगों के शब्दों में समकालीन साहित्य ने साहित्य की पवित्रता को नष्ट किया है, उसके स्तर को नीचे गिरा दिया है। आज का साहित्य ऊब, कुण्ठा और निराशा का साहित्य है। और आप तो स्वयं प्रगतिवादी आन्दोलन के पुरोधाओं में से एक हैं, आपने स्वयं साहित्य के और जीवन के प्राचीन रुग्ण संस्कारों के प्रति जेहाद किया है। ऐसी स्थिति में आज के साहित्य पर ये जो आरोप लगाये गये हैं, उनके बारे में आपकी क्या राय है?

के. ना. अ. : साहित्य कभी भी एक स्तर पर नहीं रहा। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाय, तो निरन्तर समय-समय पर बदलता रहा है। यह अवश्य है कि काल-क्रम के विकास-क्रम से साहित्य का एक आम रूप निर्धारित माना जाने लगा और उसी को उसका मानदण्ड मान लिया गया। वह मानदण्ड विशिष्ट विद्वत्समाज के द्वारा स्वीकार किया गया और इस मानदण्ड के निर्णायकों की आस्था साहित्य को जन-साधारण से ऊपर विशेष मानसिकता वाले प्रभुत्वपूर्ण व्यक्तियों की रुचिवैचित्र्य तक ही सीमित रखना चाहती थी। आम जनता शिक्षित भी नहीं थी। साहित्य के प्रचार और प्रसार के साधन भी अनुपलब्ध थे और देश की दार्शनिक पृष्ठभूमि में जीने वाले सभी लोग आदर्शवादी और परिकल्पनात्मक दार्शनिक सिद्धान्तों के परिपालन में ही अपने जीवन की सार्थकता और सिद्धि समझते थे। इसीलिए आज, तब के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप साहित्य रचे जाने की परम्परा टूटी है और उत्तरोत्तर निरन्तर टूटती ही चली गयी है। क्योंकि ज्यों-ज्यों जन-उभार स्वतन्त्रता प्राप्त करने की ओर अग्रसर होता गया है, त्यों-त्यों साहित्य के वे सभी सामंन्ती व पूँजीवादी व साम्राज्यवादी मानदण्ड उपयोगी नहीं रह गये और साहित्यकार उनसे हट-बचकर सम्पूर्ण मानवीय जीवन को पकड़कर साहित्य-सृजन करने लगा। यदि कोई इसे उस आधार पर साहित्य के गिरने का प्रमाण मान ले, तो वह ठीक न होगा। साहित्य स्वयं मनुष्य के विकास-क्रम से और उसके जीवन से भरपूर जुड़ा रहता है। इसलिए यदि पिछले मानदण्डों को छोड़कर साहित्यकारों ने साहित्य को आम आदमी के जीवन की ओर अग्रणी किया है, तो उनके प्रयास को विवेकसम्मत ही कहना चाहिए।

---

* प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल से डॉ० अशोक त्रिपाठी की बातचीत

अ. त्रि. : अभी आपने प्राचीन साहित्य के मूल्यों के टूटने की वकालत की है, स्वस्थ लक्षण माना है, तथा जड़ता का टूटना कहा है। कृपया स्पष्ट करें कि टूटने का काम आज के साहित्य में किन-किन स्तरों पर हो रहा है? और यह टूटना प्राचीन साहित्यिक मूल्यों की तुलना में कितना मूल्यवान् है और आज के साहित्य की स्तरीयता पर क्या प्रभाव डाल रहा है?

के. ना. अ. : साहित्यिक जड़ता तोड़ने का काम दो स्तरों पर चलता है—कथ्य के स्तर पर और शिल्प के स्तर पर। व्यापक जीवन को समेट पाने के लिए नये-नये कथ्य और नयी-नयी मानसिकता को पकड़ना पड़ता है। उसे नये-नये तर्ज और तेवर से नयी-नयी शैली में और जनता की समझ में आनेवाली भाषा में सम्प्रेषित करना पड़ता है। अतएव यदि कोई इस परिवर्त्तन की वजह से साहित्य के स्तर को गिरा हुआ समझता है, तो मैं उसे कतई मानने को तैयार नहीं हूँ। आज का साहित्य पिछले साहित्य से, अतीत के साहित्य से गया-गुजरा और अशुद्ध है अथवा उसका कोई मूल्य नहीं है, यह कहना अनुचित है। ऐसा मैं इसलिए कहता हूँ, क्योंकि अब तक हम जिन आदर्शों और मूल्यों को मानते रहे हैं और जिनके बल पर गर्व और गौरव का अनुभव करते हुए अपना जीवन होम करते आये हैं, वे मानव-मूल्य भले ही उच्चकोटि के हों, लेकिन उनके बल पर समाज का ढाँचा कभी भी सर्वजनहिताय के लिए नहीं बना। अपितु, वह ढाँचा तो श्रेणीबद्ध बना ही रहा, यहाँ तक कि आदमी-आदमी के बीच का आर्थिक और मानसिक धरातल दिन-ब-दिन भिन्न-से-भिन्नतर होते हुए यहाँ तक पहुँच गया कि आदमी-आदमी में फर्क किया जाने लगा। जाति, वंश और परम्परा के आधार पर मानवीय इकाइयाँ अपना-अपना गिरता हुआ जीवन-यापन करने लगीं। तो, साहित्य के स्तर की जो तथाकथित गिरावट की बात की जाती है, वह उसके स्तर गिरने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि वह उसके प्रसार और बहुआयामी होने के लिए नितान्त आवश्यक समझा जाना चाहिए। स्वाभाविक है कि हमें इस बदल रहे सामाजिक और राजनैतिक परिवेश में, अपने बदले हुए साहित्य में, कमियों का एहसास हो और हम समझ बैठें कि हमारा साहित्य अब अधोगति को प्राप्त हो गया है। परन्तु इस एहसास से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। आज आदमी दिन-प्रतिदिन संघर्ष करता हुआ सभी दिशाओं में प्रवेश करता हुआ बहुआयामी उन्नति की ओर बढ़ रहा है और वह विज्ञान और समाजवाद से लैस होकर अपनी और अपने समाज की विषमताओं और विसंगतियों को दूर कर रहा है तथा समता और समान न्याय प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गया है। इसीलिए अपने आज के साहित्य को हमें नकारना नहीं चाहिए, बल्कि उसकी दुर्बलताओं को समझना और दूर करना चाहिए जो आदमी-आदमी को एक-दूसरे से दूर करती है और आदमी को वस्तु (Commodity) बना देती है। ऐसा करने के लिए साहित्यकारों को नये संस्कार बनाने होंगे, जिसे बनाने में समय की अपेक्षा होती है। मैं देखता हूँ कि साहित्यकार संस्कार बनाने के प्रयास में लीन है और समानता की स्थापना के लिए मानवीय मूल्यों का साहित्य-सृजन कर रहे हैं।

अ. त्रि. : क्या सभी साहित्यकार इसे अपना धर्म–रचना-धर्म मानकर साहित्य-सृजन कर रहे हैं?

के. ना. अ. : निश्चय ही सभी साहित्यकार ऐसा नहीं कर रहे हैं, फिर भी यह काम हो रहा है। इसलिए आज के साहित्य के बारे में कुण्ठित होने के बजाय आश्वस्त होना चाहिए कि महान् मानवीय मूल्यों का साहित्य-सृजन सब को ऊपर उठाने और विश्वबन्धुत्व स्थापित करने के लिए हो रहा है।

अ. त्रि. : अभी आपने कहा था कि 'आज के साहित्यकारों ने साहित्य को आम-आदमी के जीवन की ओर अग्रणी किया है।' यह बात मैं मानता हूँ, लेकिन जहाँ तक समझ पाया हूँ, आज का साहित्य—आम आदमी का साहित्य, न तो आम आदमी तक पहुँच पाता है, न ही वह आम आदमी उसे समझ ही पाता है। आपका इस सम्बन्ध में क्या कहना है?

के. ना. अ. : निश्चय ही, हमारे आज के युग में, मानवीय मूल्यों के निर्धारित हो रहे परिवेश में जो साहित्य लिखा जा रहा है, वह आम आदमियों के लिए लिखा जाकर भी न तो उन तक पहुँच पाता है, और न उन तक पहुँचने पर भी, उनकी समझ में ही आता है। यह स्थिति चिन्ताजनक है।

अ. त्रि. : ऐसा होने का कारण आप क्या मानते हैं?

के. ना. अ. : ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि आज के अधिकांश लेखक जो कुछ लिखते हैं, वह अपनी निजी मानसिकता से प्रेरित होकर, आम आदमी से अलग रहकर, राजनीति और अर्थनीति से हटकर, कोरे बौद्धिक होकर लिखते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे लेखक जनता के लेखक न होकर केवल अपने-अपने निजी व्यक्तित्व के अकेले लेखक के रूप में खड़े रहते हैं और सामाजिक विषमताओं के उस चक्रव्यूह को ज्यों-का-त्यों बरकरार रहने देते हैं, जिसको तोड़े बिना आम जन-जीवन की मानसिकता को कदापि विकसित नहीं किया जा सकता। इसके लिए निजी इकाई से निकलकर समूह की ओर संक्रमण करना होगा।

अ. त्रि. : मानसिकता को बदलने का पूरा दायित्व लेखकों पर ही आप डालेंगे या पाठकों या जनता का भी इस सन्दर्भ में कुछ दायित्व होगा?

के. ना. अ. : लेखकों की तरह जनता को भी अपनी आज की आदर्शवादी कमजोरियों से निजात पाने के लिए नये समाजवादी दृष्टिकोण से जीवन बदलने के लिए तैयार होना पड़ेगा।

अ. त्रि. : इसका तात्पर्य यह कि कमजोरियाँ दोनों ओर है?

के. ना. अ. : हाँ, कमजोरियाँ दोनों ओर हैं–लेखक की ओर भी तथा जनता की ओर भी। लेखक अत्यधिक बौद्धिक और वैयक्तिक हो गया है और जनता जहाँ-की-तहाँ गुमराह होकर भटकती फिर रही है।

अ. त्रि. : आज के साहित्य के भविष्य के बारे में आप क्या सोचते हैं? साथ ही कुछ उद्‌बोधन के शब्द भी कहने का कष्ट करें।

के. ना. अ. : मैं समझता हूँ जैसे-जैसे समय और संघर्ष बढ़ेगा, वैसे-वैसे साहित्य दिशा प्राप्त करेगा और जनता तक पहुँचेगा। इसके लिए लेखकों को भी ध्यान देना होगा और साथ ही जनता को भी ऊपर उठकर साहित्य तक पहुँचने का प्रयास करना पड़ेगा; तभी यह दावा प्रस्तुत किया जा सकेगा कि जो साहित्य लिखा जा रहा है, वह सही मानव-मूल्यों का साहित्य है या नहीं और उससे नये मानसिक संस्कार बन सकते हैं या नहीं।

❐

रचना के प्रति प्रतिबद्धता*

अ. त्रि. : बाबू जी! रचनात्मक साहित्य के संसार में इधर प्रतिबद्धता को लेकर व्यापक बहस-मुबाहसा हुआ है। प्रतिबद्धता की सार्थकता को स्वीकार करनेवाले पक्षधरों के द्वारा दो मुद्दे उभरकर आये हैं—एक तो यह कि 'रचनाकार को समाज के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए' दूसरा यह कि 'रचनाकार को रचना के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए।' 'समाज के प्रति प्रतिबद्धता' की बात तो समझ में आती है कि रचनाकार को समाज के पिछड़े, कमजोर, असहाय, शोषित और समस्याग्रस्त लोगों के जीवन के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए, उनकी पक्षधरता करनी चाहिए तथा उन्हें अपने अधिकारों और दायित्वों के प्रति सजग करके न्यायोचित संघर्ष के लिए जमीन तैयार करनी चाहिए, लेकिन 'रचना के प्रति प्रतिबद्धता' से क्या तात्पर्य है? यह बात स्पष्ट नहीं हो सकी है—कम-से-कम मेरी समझ में इस जुमले का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका है। आखिर आप इस 'रचना के प्रति प्रतिबद्धता' के सिद्धान्त से क्या समझते हैं?

के. ना. अ. : 'रचना के प्रति प्रतिबद्धता' का तात्पर्य है कि रचनाकार अपनी पूरी रचना-धर्मिता केवल रचना के प्रति समर्पित करता है और इस समर्पण का तात्पर्य है कि वह रचना के अतिरिक्त किसी अन्य के प्रति अपना कोई दायित्व नहीं स्वीकारता। इस कथन से ध्वनि यही निकलती है।

अ. त्रि. : इस दृष्टिकोण से सम्पन्न रचनाओं की सामाजिक परिणति क्या होती है?

के. ना. अ. : इस दृष्टिकोण से सम्पन्न रचनाकार की ऐसी रचना केवल उसी की निजी रचना हो सकती है और यह निजत्व की अभिव्यक्ति उसकी अपनी विशिष्ट उपलब्धि के रूप में दूसरों तक पहुँच सकती है। दूसरे उसे पढ़ें या सुनें तो वे ऐसे रचनाकार की निजता से ही या निजत्व से ही परिचित हो सकते हैं। यह स्थिति रचनाकार के अपने समाज के अन्य लोगों से अलगाव की ओर अजनवीपन की स्थिति के अतिरिक्त अन्य कोई स्थिति नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में ऐसी रचना की कोई महत्ता दूसरे लोगों के जीवन के लिए नहीं हो सकती और उस सब की परिणति यह होती है कि ऐसा रचनाकार दूसरों के जीवन की गतिमयता से कोई सरोकार किसी प्रकार का नहीं रखता और केवल अपनी तथाकथित मौलिक स्वायत्तता को स्थापित करता है और उसे अपनी सफल सृष्टि समझता है। देश और काल में रहकर भी और उससे

---

* उपर्युक्त मुद्दे पर केदारनाथ अग्रवाल से डॉ० अशोक त्रिपाठी की बातचीत।

अपने व्यक्तित्व का निरूपण करके भी, देश और काल की उपेक्षा कर जाता है या यूँ कहें कि उनका निषेध कर जाता है और फिर एकाकी आत्मवत्ता से साक्षात्कार करता है और उसी के सन्दर्भ में शब्द और शिल्प का ऐसा संयोजन और सम्पुटन करता है कि उसकी ऐसी कृति केवल उसी की ओर, उसी के लिए होती है और ऐसी कृति सम्प्रेषणीयता के उन सभी तत्त्वों से वंचित रहती है, जो दूसरों पर प्रभाव डालने वाले होते हैं। ऐसा रचनाकार अपने अहं की क्षमताओं को ही सर्वोपरि स्थान देता है और दूसरे लोगों की मानसिकता में उन मानव-मूल्यों को भी नहीं पहुँचाना चाहता, जिन्हें वे देश और काल में रहते हुए अक्षुण्ण और आवश्यक समझते रहे हैं। ऐसे रचनाकार की ऐसी रचना सांस्कृतिक निरन्तरता से सम्बद्ध नहीं होती और एकालाप करती रहती है।

अ. त्रि. : बाबूजी! ऊपर के सवाल को ही थोड़ा और साफ करते हुए जानना चाहूँगा कि आज राजनीति का युग है, राजनीति व्यक्तिगत सम्बन्धों से लेकर सामाजिक सम्बन्धों तक में घुसपैठ कर गयी है, अत: जो रचनाएँ इस सत्य की उपेक्षा करती हैं, अपने परिवेश से असम्पृक्त होकर अपने को स्थापित करना चाहती हैं, उनके बारे में आपकी क्या राय है?

के. ना. अ. : यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल है। यह युग राजनीति का युग है, नयी मानसिकता के संघर्ष का युग है और आदमी के सामाजिक और राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में अपने दायित्व के निर्वाह का कठिन युग है। कविता यदि इन सबसे अलग जीकर फिर भी कविता का रोल अदा करना चाहती है, तो उसे समाज में नहीं, बल्कि उसे किसी अजायबघर में रख देना होगा, पहुँचा देना होगा। निश्चय ही कविता एक ऐसी उपलब्धि है, जिसे प्राप्त करने के लिए , कवि सूक्ष्म और स्थूल-जगत् के अनेकानेक अवगतताओं से परिचालित होकर अपने व्यक्तित्व को मथता है और तब शब्द और अर्थ की सार्थक संहति देकर कविता प्रस्तुत करता है।

अ. त्रि. : इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'रचना के प्रति प्रतिबद्धता' का सिद्धान्त प्रकारान्तर से 'कला कला के लिए' का ही सिद्धान्त है?

के. ना. अ. : हाँ! यह शुद्ध कलावादी सिद्धान्त का ही एक नया रूप है, जो कवि के अपने बचाव का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की मुनादी वही लोग करते हैं, जो यथास्थिति के दबाव से बचना चाहते हैं और यथास्थिति के शासकीय तन्त्र के पक्षधर होकर उसी से समय-समय पर मान-सम्मान और पुरस्कार प्राप्त करते हैं। यह पथ संघर्षविहीन पथ है, अवश्य है। कविता जंग लगी तलवार नहीं है, न वैयक्तिक मौलिकता का जड़ाऊ और कामदार उतारन है, जिसे दूसरे लोग आश्चर्य से देखकर केवल वाह-वाह करने लगें। ऐतिहासिक विकास-क्रम में संघर्ष कर रहे लोगों के क्रिया-कलाप और उनकी विचार-सरणियाँ जब तक किसी रचनाकार को अपने मानसिक मन्थन करने के लिए विवश नहीं कर देतीं, तब तक वह केवल भित्ति-लेख ही लिख सकता है कविता नहीं। और ऐसे भित्ति-लेख केवल वही समझ सकता है।

ऐसा रचनाकार भी नागरिक होता है और नागरिक की हैसियत से उसे अपने चारों तरफ के परिवेश से सम्बद्ध होना पड़ता है। वह अजीब आकृति का ठूँठ बनकर सबके बीच में खड़ा नहीं रह सकता। उसे पेड़ बनने के लिए जमीन से खाद खींचनी ही पड़ेगी, बादलों से पानी पीना ही पड़ेगा, फूल-फल लाना ही होगा, तभी वह पेड़ कहलाने का अधिकारी होगा। ऐसे ही फल-फूलदार पेड़ की सराहना सामाजिक जन करने को बाध्य होते हैं और ऐसा ही पेड़ ऋतुचक्र में अपनी मौलिकता प्रकट करता है। ठूँठ तो, केवल काटकर बैलगाड़ी का पहिया या सैला बनाने के काम आता है।

अ. त्रि. : अब, मैं इस सवाल को विशिष्टीकृत करते हुए, आपसे अज्ञेय के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ, क्योंकि अज्ञेय को अभी निकट भूत में ही सन् 1979 का ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला है, इसलिए उनकी रचना-धर्मिता के बारे में जानने की उत्सुकता है। उसी सन्दर्भ में मैं एक बात और कहना चाहूँगा कि सत्य-समय पर जब भी अज्ञेय के साहित्य के बारे में आपसे कुछ चर्चाएँ हुई हैं, उस समय जहाँ तक मुझे याद है, आपने जो कुछ भी कहा है, उससे यही ध्वनि निकलती है कि अज्ञेय भी इस बचाव के सिद्धान्त के पक्षधर हैं। तो आज आप जरा अज्ञेय के बारे में कुछ विस्तार से बताने की कृपा करें— विशेष रूप से उनकी रचना-धर्मिता की ईमानदारी को केन्द्र में रखते हुए।

के. ना. अ. : मैंने जहाँ तक अज्ञेय की रचनाएँ कुछ पत्र-पत्रिकाओं में और पुस्तकों में देखी हैं, उनमें से अधिकांश ऐसी ही रही हैं, जो केवल उन्हीं की निजता को आभिजात्य ढंग से व्यक्त करती रही हैं। उनकी कुछ प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ अवश्य ही दूसरों की मानसिकता को ग्रहणीय होती हैं। उनके अतिरिक्त उन्होंने जहाँ-जहाँ समाज से कटकर उसकी उपेक्षा करते हुए, जन-जीवन को उसके यथार्थ-बोध से अलग किया है और उन सबके अभाव में केवल अपनी मौलिकता का कौशल प्रदर्शित किया है, वहाँ-वहाँ उनकी रचनाएँ 'रचना के प्रति प्रतिबद्धता' के सिद्धान्त का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। वे कदापि भारतीय जन-मानस की सांस्कृतिक उपलब्धियों की इकाइयाँ नहीं कही जा सकतीं।

अ. त्रि. : उनकी कुछ कविताओं के परिप्रेक्ष्य में इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे?

के. ना. अ. : उदाहरण के लिए उनकी कविता 'असाध्य-वीणा' को ले लीजिये। यह 'असाध्य वीणा' उनकी एक मशहूर और बहुचर्चित कविता है।यह रचना कलाकार की मौलिकता की स्थापना का ही उद्घोष करती है और पूरे जन-जीवन की उपेक्षा करती हुई केवल कलाकार की निजता में प्रतिष्ठित हो जाती है। उसमें केवल कलाकार का मानसिक ग्राफ मिलता है, जो जीवन के घटना-क्रम का अतिक्रमण करके अमूर्त्तन की स्थिति पैदा कर देता है। मैं ऐसे अमूर्त्त कला में कविता का न तो विकास-क्रम पाता हूँ, न मानव-मूल्यों का कोई स्वीकरण पाता हूँ।

कविता 'असाध्य-वीणा' नहीं है, न 'असाध्य-वीणा' कविता है। असाध्य को साध्य बनाना यही कवि-कर्म है।

इसी प्रकार अज्ञेय की एक दूसरी कविता है 'ना जाने केहि भेस'। यदि इसे ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय और विश्लेषित किया जाय, तो अज्ञेय जी की मानसिकता का सही-सही पता चलता है। यह कविता उन्होंने 'जरस' (कृष्ण को मारनेवाला बहेलिया) और 'कृष्ण' को लेकर लिखी है। 'जरस' ने बाण चलाया कृष्णसार मृग पर, परन्तु उसकी सावधानी और सधे पाँव, और तना धनुष और चढ़ा बाण ये सब, कोई काम नहीं कर पाते और उसका बाण कृष्णसार-मृग को न लगकर कृष्ण को लग जाता है। अज्ञेय जी ने अपने को जरस के रूप में प्रस्तुत किया है। (इस कविता में)। नारायण (जीवित कृष्ण) तो उन्हें मिले नहीं, लेकिन, उनका खुला गिरा मोर-पंख का किरीट व सस्त वैजयन्ती माल मिले और टूटी पड़ी बाँसुरी भी मिली तथा मलियाते पैरों के सूक्ष्म घाव से निकलकर रेंगता हुआ आयु-शेष, शुभ्रस्रपी (साँप) मिला। इसे लक्ष्य सिद्धि नहीं, वरन् लक्ष्य-भ्रष्ट की उपलब्धि कही जा सकती है; क्योंकि जिस नारायण की प्राप्ति के लिए यह सब ताम-झाम किया गया, वही नहीं प्राप्त होता, मात्र उसकी उतारनें ही प्राप्त होती हैं। इसे युगीन सन्दर्भ में अगर यों कहें, तो इस कविता का कोई सार्थक तात्पर्य इतना निकल सकता है कि इस यथास्थिति वाली मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की राजनीति में जी रहे लोग चाहे जितने मौलिक प्रयास करें, वे सभी प्रयास असफल हो जाते हैं और लक्ष्य की प्राप्ति न होकर केवल आह भरना पड़ता है और इसी से सन्तोष करना पड़ता है कि इसी रूप में (ऊपर वर्णित) हमको नारायण मिले।

यह आत्मप्रवञ्चना की अभिव्यक्ति की मौलिक कृति हो सकती है, लेकिन जन-जीवन से जुड़ी हुई आज के युगीन सन्दर्भ की कचोट पैदा करने-वाली कविता नहीं हो सकती। 'जरस' वाली घटना से आज के यथार्थ की अभिव्यक्ति लेशमात्र भी नहीं होती। रचनाकार इसीलिए इस कविता में, अपने बनाये अमूर्त्त सिद्धान्त का शिकार हो गया है।

अ. त्रि. : अमूर्त्तता से आपका क्या मन्तव्य है?

के. ना. अ. : अमूर्त्तता से मेरा तात्पर्य यह है कि आज की यथास्थिति के सार्वजनिक संकट की कोई भी झाँकी या प्रस्तुति इसमें नहीं मिलती है और उसका एकमात्र कारण यही है कि रचनाकार न तो अपने युग से प्रतिबद्ध है, न जनता से।

अ. त्रि. : इसी दृश्य को थोड़ा और स्पष्ट देखने के उद्देश्य से मैं चाहूँगा कि आप किसी ऐसे रचनाकार का उल्लेख करें, जो 'असाध्य को साध्य बनाना' कवि-कर्म मानता हो, ताकि उसकी पृष्ठभूमि में अज्ञेय की रचनात्मक मानसिकता की साफ तस्वीर उभर कर आ सके।

के. ना. अ. : इस सन्दर्भ में काजी नज़रुल इस्लाम की 'अग्नि-वीणा' नाम की कविता की ओर मेरा ध्यान बरबस चला जाता है। अज्ञेय की 'असाध्य-वीणा' के समान 'वीणा' तो यहाँ भी है, पर यह कवि की 'वीणा' है, साथ-ही-साथ देश और काल में

जी रहे सभी लोगों की मानसिकता की कविता है, जो शोषण और रूढ़ियों से मुक्ति पाना चाहते हैं। नज़रुल इस्लाम साहब ने यह कविता अपनी निजता स्थापित करने के लिए नहीं लिखी थी। वरन् अपनी निजता को, कवि निजता को, जन-निजता में समाहित कर दिया है। ऐसा करने के बाद भी उनकी अग्नि-वीणा उतनी ही उनकी है, जितनी दूसरों की। उनकी मानसिकता व्रत सार्वजनिक व्रत हो गया है और कवि का व्यक्तित्व सार्थक, सामाजिक व्यक्तित्व हो गया है, जो यथास्थिति के विरुद्ध संघर्ष करने का बल और बोध देता है। यह बात अज्ञेय की कविता में नहीं है। यदि कोई 'ना जाने केहि भेस' कविता के प्रथमांश का हवाला देकर यह सिद्ध करे कि आज भी वही स्थिति है, जो महाभारत युग में थी, जैसा कि अज्ञेय ने उस समय का चित्रण किया है– 'मद और मूसलों की दोहरी मार से त्रस्त और ध्वस्त यादव वीर खेतों में बिछे पड़े थे, सूर्य डूब चुका था, चन्द्रमा डूब चुका है, तात्पर्य यह कि प्रकाश-विहीन समय था। इतना कहने के बाद भी आज की युगीन संक्रान्ति का रंचमात्र भी संकेत नहीं मिलता। इसलिए किसी भी प्रकार से अज्ञेय की इस कविता को आज के सन्दर्भ में सार्थक नहीं सिद्ध किया जा सकता।

इसीलिए मैं अज्ञेय की तथाकथित बहुचर्चित ऐसी मौलिक उपलब्धियों की रचनाओं को किसी दूसरे के लिए मानव-मूल्य-विहीन रचनाएँ मानता हूँ। जबतक वे देश, समाज और जीवन के बहुआयामी परिवेश से प्रभावित होने का कष्ट नहीं उठाते, तबतक वे ऐसी ही अहंवादी निजी स्थापना की रचनाएँ रचते रहेंगे।

अ. त्रि. : अन्त में आज के नवोदित रचनाकारों के लिए सन्देश के रूप में दो शब्द इस सन्दर्भ में कहने की कृपा करें कि रचना कितने सोपानों को पारकर 'रचना' बन पाती है?

के. ना. अ. : नये रचनाकारों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि रचना पहले से ही कहीं बनी-बनायी विद्यमान नहीं रहती, जिसे रचनाकार वहाँ से बाहर खींच लाता है। रचनाकार को रचना का कोई रूप पहले से दिखाई नहीं देता। वह वस्तुवत्ता से अवगत होकर, उसीसे अपने इन्द्रिय-बोध के द्वारा लिखने की ओर प्रयाण करता है और रचना-प्रक्रिया के पूरे दौर से गुजरता है और तब जो रचना उसे मिलती है, वह एक ऐसी इकाई होती है, जिसका पहले से रचनाकार को कोई संज्ञान नहीं होता।

❐

कविता के सम्बन्ध में

प्रश्न : कविता का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन ही कविता बन जाता है। यह कला तत्त्व है? जिसकी अपेक्षा कविता में की जाती है और जिसकी चर्चा कविता के सम्बन्ध में बार-बार हुआ करती है।

उत्तर : कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध जीवन से जरूर है, लेकिन कविता जीवन नहीं है। जीवन के कुछ खास पक्ष रचनाकार ग्रहण करता है और उन्हें अपनी कविता में भाषा के माध्यम से विशेष बनाकर व्यक्त करता है। इसलिए कविता न तो समग्र जीवन है, न जीवन का सीधा-सीधा वैसा ही अनुरूप आलेख है। होता यह है कि कवि जीवन के किन्हीं खास पहलुओं से अवगत होता है और अवगत होकर अपने इन्द्रिय-बोध के द्वारा अपने मस्तिष्क में उन सब से प्रभावित होता है। और इस तरह प्रभावित होने से उसके मस्तिष्क के केन्द्रों में सक्रियता और सम्बन्धसूत्रता उपजती है और फिर कवि की चेतना रचना-प्रक्रिया की ओर अग्रसर होती है और इसी दिशा में अनुभूत तत्त्वों का एक विशेष प्रकार से संयोजन होने लगता है और तभी जो बात इन्द्रिय-बोध के समय केवल संघात के रूप में रहती है, कुछ-कुछ आकार-प्रकार के रूप में पकड़ में आने लगती है और यही पकड़ कवि के अपने शब्दों से मेल-मिलाप के अधिक स्पष्ट रूप पाने के लिए एक खोज में लग जाती है और इसी खोज के सिलसिले में कृति बन जाती है और कृति बनकर दूसरों के लिए उपलब्ध वस्तु बन जाती है। इस सम्पूर्ण क्रिया-प्रक्रिया की उपलब्धि, जो कृति के रूप में प्राप्त होती है, से ही वह जाना जा सकता है कि उसके वे तत्त्व कौन-से हैं, जो उसे सविशेष बना सके हैं। वे तत्त्व जो कृति को जीवन से जोड़ते हैं और जोड़कर भी जो उसे जीवन की एक दूसरी तस्वीर देते हैं, उन्हीं को कला की संज्ञा देना उपयुक्त होगा। वे तत्त्व अनायास ही नहीं प्राप्त होते। कवि उन्हें दूसरे की कृतियों को पढ़कर भी प्राप्त करता है। साथ-ही-साथ उसकी अपनी दृष्टि भी उन्हें कभी-कभी सीधे जीवन में प्राप्त करने में मदद देती है। वे तत्त्व कथ्य से सम्बन्धित हो सकते हैं और शिल्प से भी सम्बन्धित हो सकते हैं। कथा तभी कलात्मक होती है, जब या तो वैसा कथ्य पहले कभी प्रस्तुत नहीं किया गया या अगर वैसा कथ्य कभी प्रस्तुत भी किया गया है, तो इस बार उसे पहले से अधिक नया बनाकर प्रस्तुत किया गया है। कलात्मक कथ्य चेतना का ही अंश होता है। इसलिए कवि की चेतना ही वास्तव में एक नये ढंग से प्रकट होकर कलात्मक कथ्य बन जाती है। कथ्य में जो बात कही जाती है, वह ऐसे ढंग से कही जाती है कि वह असरदार हो जाती है और व्यक्ति-विशेष की न रहकर दूसरों की बात भी हो जाती है। वह सम्प्रेषणीयता ही कथ्य की कलात्मकता को सबतक पहुँचाती है।

आदमी शताब्दियों से अपनी बात को निरन्तर कविता बनाकर कहता चला आया है और ऐसा करते-करते उसने कहने की विधि और विधान संगृहीत कर लिया है और वही उसकी अपनी विशिष्ट निधि बन गये हैं। उसी का नाम कला है।

कविता में कहा गया कथ्य छिन्न-भिन्न और एकांगी अस्तित्व का कथ्य नहीं होता, वह कथ्य परिवेश से सम्बन्धित होता है और उस परिवेश के सम्बन्ध-सूत्र परिवेश की अनेकानेक इकाइयों से जुड़े होते हैं, और तभी वह ग्रहणीय होते हैं। उपमा देकर कही गयी बात कथ्य में चमक पैदा कर देती है। रूपक में कही गयी बात कथ्य को साकार कर देती है। अलंकृत करके कही गयी बात कथ्य को गूँजमयी बना देती है। यही सब जो कुछ अब तक आदमी करता आया है, वही कला का शास्त्र बन गया है। लेकिन कथ्य भी दस-दस बीस-बीस साल में पुराना पड़ता और बदलता रहता है। इसी प्रकार कथ्य की कला भी पुरानी पड़ती और बदलती रहती है इसीलिए बदले हुए कथ्य के लिए अधिक सम्प्रेषणीय बनाने में बदली हुई कला की आवश्यकता होती है। शिल्प का काम है कथा को उजागर करना। जब दोनों एक-दूसरे का साथ देते हैं, तभी कला अपनी प्रखरता प्राप्त करती है। शिक्षा में ही तो शब्द सँजोये जाते हैं, कथ्य को प्राणवन्त करने के लिए एक-दूसरे से इस तरह जकड़े जाते हैं कि जो शब्द जिस जगह है, उस जगह से वह अपना तो काम करे ही, दूसरों को भी पूरी तरह काम करने में योग दे।

शब्द इसीलिए तो लय में लीन किये जाते हैं और लय में लीन होकर ही वह एक कुटुम्ब में आत्मीय सदस्य बने रहते हैं।

प्रश्न : क्या कोई ऐसी कविता नहीं हो सकती, जिसमें कला के तत्त्व न हों? क्या ऐसी सम्भावना है?

उत्तर : कला के भी कई स्तर होते हैं। जब कोई शिकारी अपने घर में किसी पशु का आकार बनाता है, तब वह आकार आदिम स्तर का होता है। लेकिन जब एक कुशल चित्रकार उसी पशु का आकार बनाता है, तो वह एक सधे हुए उन्नत स्तर का होता है। लेकिन दोनों में अपने-अपने ढंग से आकार बनाने में—कला सन्निहित रहती है। वास्तव में शिकारी का प्रयास भी उससे अपेक्षा रखता है कि वह पशु के आकार को अपनी दीवार पर उससे मिलता-जुलता बनाये। जब शिकारी ऐसा करता है, तब यह निश्चय ही कला के प्रारम्भिक प्रयोग करता है। अतएव वहाँ भी कला रहती है। वही शिकारी अगर कुशल चित्रकार बन जाय और अभ्यास करते-करते दक्ष हो जाय, तो जो चित्र वह अब बनायेगा, वह निश्चय ही उसके बनाये गये प्रारम्भिक चित्रों से बहुत भिन्न होंगे। इसलिए कला कोई एक शाश्वत अपरिवर्त्तनीय तत्त्व नहीं है, जो आदमी को किसी दूसरी शक्ति से मिली हो। वह मनुष्य के चेतन प्रयास की समर्थ गुणात्मकता की अभिव्यक्ति होती है।

प्रश्न : तो क्या आपकी हिन्दी-कविता कल की हिन्दी-कविता से अपनी कला में निश्चय ही भिन्न होगी?

उत्तर : इसमें कोई शक नहीं है। ये युग की नयी बात को नये ढंग से कहने में ही नये युग के लोग उसे ग्रहण कर सकते हैं। उसी बात को पुराने ढंग से पुराने लोगों की तरह अब के लोगों से कहकर उसे उनको नहीं समझाया जा सकता।

इसका मतलब यह हुआ कि कला के सम्प्रेषणीय होने के लिए युग के परिवेश को भुलाया नहीं जा सकता। पद्माकर का कथ्य और शिल्प आज के युग का कथ्य और शिल्प नहीं हो सकता; इसलिए पद्माकार की कला के तत्त्वों को आज की कविता के तत्त्व नहीं बनाया जा सकता।

प्रश्न : क्या कोई ऐसी कविता नहीं हो सकती, जो केवल कलात्मक अभिव्यक्ति मात्र हो और जिसका कोई सम्बन्ध जीवन से न हो?

उत्तर : 'कला कला के लिए' है और 'कला जीवन के लिए' नहीं है, यह सिद्धान्त पहले कभी प्रतिपादित किया गया था; लेकिन यह सिद्धान्त निरर्थक रहा। मूल कारण यह है कि कोई भी कृति केवल कला की अभिव्यक्ति मात्र होकर दूसरे के लिए कृति नहीं हो सकती और आदमी के जीवन के लिए नहीं हो सकती। कला अपने-आप में जीवन के सम्बन्ध-सूत्रों से उच्छिन्न होकर टिक न सकती। क्योंकि कला स्वयं अर्पित की जाती है और हर कृति की अपनी एक अलग मुद्रित और प्रकाशित कला होती है। कृति से अलग कला का कोई अस्तित्व न मनोजगत् में रहता है न भौतिकवाद में रहता है। इसलिए ऐसी कोई कविता नहीं हो सकती, जो केवल कला की अभिव्यक्ति मात्र हो और जिसका जीवन से कोई सम्बन्ध न हो। जो लोग यह बात नहीं समझते, वह कला के रहस्य को नहीं समझते?

प्रश्न : क्या कोई कवि अपने लिए ही, अपनी अनूठी कला की कविता नहीं बना सकता?

उत्तर : ऐसी कविता बनाने के लिए कोई मनाही नहीं है; लेकिन ऐसी कविता केवल उसी के लिए होगी। वह उसे उसका सुख दे सकती है, लेकिन उस सुख में कोई दूसरा भागीदार नहीं हो सकता; इसलिए ऐसी कविता एक कटी हुई इकाई हो सकती है। और फिर जो चेतना इस कला का रूप लेकर प्रकट हुई है, वह चेतना दूसरे आदमी की चेतना नहीं हो सकती और न ऐसी चेतना समूह की चेतना हो सकती है। अवश्य ही ऐसी कृति या कविता जी नहीं सकती।

प्रश्न : क्या एक युग की कविताएँ एक ही प्रकार की कला की कविताएँ होती हैं?

उत्तर : एक युग में एक ही प्रकार की कविताएँ हों और उन सब की कला एक ही प्रकार की हो, ऐसा नहीं होता। कविता किसी भी युग में कुम्हार के चाक में रखकर नहीं बनायी जाती और न एक ही साँचे में ढालकर बनायी जाती है। कारण इसका यह है कि युग के सब कवि एक ही प्रकार से अपने परिवेश से एक ही प्रकार का संघात नहीं ग्रहण करते और न ही एक ही प्रकार से प्रभावित होते हैं और न ही एक ही प्रकार से उनके मस्तिष्क के केन्द्र सक्रिय होते हैं, और न ही एक ही प्रकार से उनकी रचना-

प्रक्रिया चालू होती है। यही नहीं, हर कवि की अपनी भाषा की क्षमता होती है और अपने प्रकार से अपने कथ्य और शिल्प को सम्प्रेषणीय बनाने की रुचि होती है। इसीलिए एक युग के सब कवि एक ही तरह से कविता नहीं लिखते।

प्रश्न : तो क्या एक कवि अपनी सब कविताएँ एक ही प्रकार से लिखेगा?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं होगा।

कवि की हर कविता उसकी दूसरी कविता से अलग होगी ही। ऐसा इसलिए होगा, क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थितियों में, भिन्न-भिन्न तरीके से, भिन्न-भिन्न दिशा में कवि रचना करेगा। इसलिए उसकी सब कविताओं में एकरसता नहीं होगी। यह सम्भव है कि एक बात को कोई कवि दस तरह से, दस दृष्टिकोण से कहे। तब भी दसों कविताएँ एक जैसी न होंगी।

प्रश्न : तो क्या कला का कोई मापदण्ड नहीं हो सकता?

उत्तर : कला का अलग से कोई अपना मापदण्ड पूर्व-निर्धारित नहीं है। कला अपने को अंशों में व्यक्त करती है। इसलिए कला का कोई अलग से मापदण्ड निर्धारण नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन प्रत्येक कविता का एक मापदण्ड खोजा जा सकता है। वह इसलिए कि जो कथ्य उस कविता में व्यक्त हुआ है, वह कथ्य किस हद तक भरपूर समर्थ शिल्प के साथ व्यक्त हुआ है। यदि वह कथ्य वैसे समर्थ शिल्प के साथ उस कविता में नहीं व्यक्त हुआ, तो यह कहना पड़ेगा कि वह कविता अच्छी कविता नहीं है। यही नहीं, यह भी देखना होगा कि उस कविता का कथ्य और शिल्प कहाँ तक युग के परिवेश से जुड़ा हुआ है और उस परिवेश का सत्य या यथार्थ या सौन्दर्य या शिल्प कहाँ तक साकार हुआ है। यदि कविता में यहसब नहीं मिलता, तो वह कविता अच्छी कविता नहीं होगी।

प्रश्न : क्या कविता का अपना कोई निजी मापदण्ड स्थापित नहीं किया जा सकता और क्या उसे जीवन के मापदण्ड से ही मापना चाहिए?

उत्तर : मैं ऊपर ही कह चुका हूँ कि कविता जीवन नहीं है और न जीवन कविता है; लेकिन कविता नि:सन्देह जीवन के घात-प्रतिघात (से और उसके संघातों से जुड़ी हुई कविता) आत्मबद्ध इकाई नहीं है। वह जीवन की चेतन सम्पृक्त इकाई है। इसलिए कविता का मापदण्ड भी जीवन के मापदण्ड से जुड़ा हुआ है। दोनों के मापदण्डों में जो अन्तर है, वह यह है कि कविता का मापदण्ड कवि की रचनाधर्मिता के कारण विशेष प्रकार का हो जाता है, और वह मापदण्ड जीवन के मापदण्ड से बदला हुआ होता है। जीवन आदमी जीता है। जी रहे जीवन को आदमी वैसे ही कविता में व्यक्त नहीं करता; कवि जी रहे जीवन में उन्हीं पक्षों को व्यक्त करता है, जो पक्ष उसकी रचनाधर्मिता के क्षेत्र में आ गये होते हैं। इसीलिए कविता की पुस्तक सदाचार की पुस्तक नहीं है, इसीलिए कविता की पुस्तक राजनीति की पुस्तक नहीं है। न वह कानून की पुस्तक है, न वह हिकमत की पुस्तक है।

❐

एक साहित्यिक साक्षात्कार*

भोपाल से इटारसी, सतना और कर्वी होता हुआ पहुँचा बाँदा। स्टेशन की सीमा पार करके अब मैं सड़क पर पहुँच चुका था। रिक्शा सामने था, मैंने कहा वकील अग्रवाल जी के यहाँ सिविललाइन्स ले चलो (रिक्शेवाला अग्रवाल जी को जानता था)। मन में लगन, इच्छा और उत्सुकता थी कि अग्रवाल जी के दर्शन कर जीवन और व्यक्तित्व पर चर्चा करूँगा, प्रगतिवाद एवं नयी कविता के बारे में उनके विचार जानूँगा। यही विचार-सरणि न जाने कब तक अविच्छिन्न रूप से चलती रहती, यदि सड़कों और मोड़ों को पार करता हुआ मेरा रिक्शा सिविललाइन्स, अग्रवाल जी के बँगले के सम्मुख आकर रुक न जाता। गोधूलि-बेला बीत चुकी थी, पर अभी अन्धकार नहीं हुआ था।

बँगले के दरवाजे के निकट पहुँचा—बन्द द्वार पर तख्ती लटक रही थी (उनके नाम की नहीं)। मैंने पुकारा,—अग्रवाल जी...

उस समय अत्यन्त व्यस्त भाव से अग्रवाल जी ने स्वयं दरवाजा खोला—अपरिचित देख वे कुछ पूछनेवाले ही थे कि मैंने स्वयं अपना परिचय दिया—'मैं मालवीय हूँ, ओबेदुल्लागंज, मध्य प्रदेश से आया हूँ।'

'मालवीय' शब्द सुनकर ही वे प्रसन्न हुए और मन्द मुस्कान सहित बोले—आओ, आओ, अन्दर आओ। (अग्रवाल जी से मैं पत्र-व्यवहार कई बार कर चुका था)। मैं अन्दर पहुँचा, चरण स्पर्श किये। वे बोले यहाँ बैठिए, मैं दो मिनट में आया—इतना कहकर अग्रवाल जी अन्दर चले गये। इस अवकाश में मैंने कमरे के चारों ओर दृष्टि डाली। आठ-दस कुर्सियाँ थीं, एक सोफासेट भी था, अलग से अग्रवाल जी की अपनी आरामकुर्सी भी रखी थी। दीवार पर कोई चित्र तो दिखा नहीं। व्यक्तित्व अगर कहीं से झाँकता दिखा, तो जगह-जगह करीने से सजी किताबों से। वकालत और साहित्य दोनों ही प्रकार की किताबें मुझे दिखायी दीं। मैंने सोचा रात के एकान्त में अग्रवाल जी इसी कमरे में काव्य-साधना में संलग्न होते होंगे। अग्रवाल जी का कमरा किसी-न-किसी प्रकार की काव्यात्मक भावना तथा प्रेरणा से शून्य न था।

इस प्रकार की विचार-तरंगों में मैं न जाने कितनी देर बहा चला जाता कि इतने में बगल के कमरे से अग्रवाल जी परदा हटाते हुए मेरे सामने की आरामकुर्सी पर आ बैठे। इतने में ही चाय आ गयी—दोनों चाय पीने लगे। चर्चा मैंने ही प्रारम्भ की। पूछा—'इस

---

* केदारनाथ अग्रवाल से डॉ० रामचन्द्र मालवीय की बातचीत।

समय आपकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में कम पढ़ने को मिलती हैं–क्या आपने रचनाएँ लिखना बन्द कर दिया?'

अग्रवाल जी तपाक से बोले–रचनाएँ लिखना कैसे बन्द कर दूँगा–तुमने मेरी यह रचना नहीं पढ़ी है–'जिऊँगा, लिखूँगा। कि मैं जिन्दगी को। तुम्हारे लिए और अपने लिए भी। अनूठी मिली। एक निधि मानता हूँ।' इस प्रकार अग्रवाल जी की और मेरी काव्य पर, लेखन पर और उनके जीवन पर काफी चर्चाएँ हुईं। जब काफी समय हो गया, तो मैंने कुछ खास प्रश्न प्रगतिवाद और नयी कविता के बारे में पूछे–अग्रवाल जी ने बताया–'प्रगतिवाद अब तो और जोरों से राजनीतिक उभार लेकर अधिक और जोश से आगे आ रहा है।' नयी कविता के बारे में उनके विचार थे कि–'नयी कविता उन बौद्धिकों की मानसिकता की कविता है, जो केवल अपने लिए ही जीवन जीते हैं–मुझे तो लगता है कि नयी कविता धीरे-धीरे खतम होती जा रही है।' मैंने पूछा–'क्या कविता से समाज-सुधार की आशा की जा सकती है?' अग्रवाल जी ने मस्तिष्क पर बल दिये और नम्र स्वर में बोले–'मालवीय! अभी कविता से ऐसी आशा करना सारगर्भित नहीं है। मैं तो कविता को मानसिकता बदलने मात्र का साधन मानता हूँ।'

मैं अपने साथ इक्तीस प्रश्न लिखकर ले गया था। उचित समय देखकर मैंने अपने प्रश्न अग्रवाल जी को देते हुए कहा–देखिए! अग्रवाल जी ने प्रश्न पढ़े और बोले अच्छे हैं। मेरे ही निवेदन करने पर वे सहर्ष बोले–'ठीक है। डाक द्वारा मैं इनके उत्तर भेज दूँगा। अभी कुछ और पूछना हो तो बोलो।' मैंने घड़ी देखी ट्रेन का समय हो गया था–क्षमा चाहते हुए बोला–काफी चर्चा हो गयी। मुझे अभी रात्रि में ही जाना है। आपके व्यक्तित्व को जान सका, इससे बढ़कर आपके दर्शन कर लिए–अब तो मैं चलता हूँ।

चलते-चलते मैंने कहा–'मेरा उद्देश्य इन प्रश्नों के माध्यम से काव्यगत मूल्यों की नहीं, वरन् कतिपय ऐसे तथ्यों के सम्बन्ध में जानकारी एकत्र करनी है, जो प्रायः बहुत साधारण होते हैं, पर किसी वृत्ति के कालान्तर में महत्त्वपूर्ण हो उठने के साथ, उनका स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है, ताकि सर्वेक्षण की पृष्ठभूमि कमजोर न रहे। अतः यह प्रश्न मात्र एक भूमिका-स्वरूप है। केदार जी मुस्कानभरी मुद्रा में बोले–'मैं जानता हूँ, तुम शोध-छात्र हो, तुम्हें मार्ग-दर्शन करते हुए ही, मैं, इन प्रश्नों के उत्तर शीघ्र ही भेज दूँगा।'

केदारनाथ अग्रवाल जी से इस पहली मुलाकात के लिए विशेष आदरभाव अपने साथ ले गया था, अतः बिदा लेते समय संस्कारों का स्मरण करके विधिवत् चरण-स्पर्श किये और अग्रवाल जी के बँगले से चलता बना।

पहले ही साक्षात् में उनसे मैं बहुत प्रभावित हुआ। शायद उस साक्षात्-क्षण को मैं आजीवन भुला नहीं पाऊँगा। एक माह के अन्दर ही मेरे प्रश्नों के उत्तर केदार जी ने भेज दिये, जो निम्नांकित हैं–

प्रश्न : आपकी प्रथम रचना कौन-सी है? उसे लिखने में कवि-भावना रही है अथवा अन्य कोई प्रेरणा?

उत्तर : मेरी प्रथम रचना कौन-सी थी, याद नहीं है। लेकिन मुझे दूसरों की कविता से ही कविता लिखने की प्रेरणा मिली है।

प्रश्न : कृपया पिता जी, माता जी, पत्नी एवं बच्चों के नाम भी बता दीजिए?

उत्तर : मेरे स्वर्गीय पिता का नाम श्री हनुमानप्रसाद गुप्त था। मेरी माता जी का नाम घसिट्टो था। मेरी पत्नी का नाम पार्वती है। मेरी बड़ी लड़की का नाम श्याम अग्रवाल है। इलाहाबाद में ब्याही है। उससे छोटी लड़की का नाम किरन अग्रवाल है– दिल्ली में ब्याही है। मेरी सबसे छोटी सन्तान मेरा बेटा अशोककुमार अग्रवाल है। वह मद्रास में सिनेमोटोग्राफर है और उसकी पत्नी का नाम ज्योति अग्रवाल है। उनके तीन पुत्र हैं। बड़े बेटे का नाम प्रशान्त, मझले का विशाल और छोटे का आकाश है। बड़ा पाँच वर्ष का, छोटा ढाई वर्ष का है।

प्रश्न : आपके पिता जी का प्रमुख व्यवसाय क्या था? आपने वकालत पेशे को क्यों अपनाया?

उत्तर : मेरे पिता जी खेती करते थे। डेढ़ सौ बीघा के किसान रहे हैं। वे अभी डेढ़ साल हुए 83 वर्ष की उम्र में दिवंगत हुए हैं। बाँदा से, 40 मील दूर, ग्राम देह में रहते थे और वहीं खेती से जीवन-यापन करते थे। मैंने अपने चाचा स्व० श्री मकुन्दलाल अग्रवाल के संरक्षण में शिक्षा पायी और उन्हीं के साथ, मैं वकील होकर वकालत का पेशा करने लगा। भारतीय साहित्य और संस्कृति-चिन्तकों के त्याग और उनकी तपस्या के फल से प्रारम्भ से ही परिकल्पनात्मक होते हुए भी जीवन से गहरे रूप से सम्बद्ध रहे हैं और निरन्तर ही दो धाराओं में प्रवाहित हुए। एक धारा आर्यों के विचारों से निःसृत हुई, जो सदैव ही जग और जीवन से पूर्णरूपेण आबद्ध जीती रही हैं, दूसरी धारा बाद को विरागमुखी होकर जग और जीवन से मोक्ष पाने के प्रयास में रही है। प्रगतिवाद उस प्रगतिशील साहित्य को कहा गया है जो समाजवादी राजनीति से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहा है। प्रगतिशील साहित्य में राजनीति या समाजवाद समाविष्ट या तो नहीं ही रहा है और रहा भी है तो मानववादी स्वर से संगत होकर प्रकट हुआ है और वह सभी साहित्य प्रगतिशील समझा गया है जो अपने मूल स्वर में आम आदमी के जीवन से उद्‌भूत हुआ और उसी के लिए समर्पित हुआ। लेकिन देश की राजनीतिक समस्या जैसे-जैसे जनवादी होती चली है, वैसे-वैसे राजनीति के दबाव, कुछ समय तक के लिए, क्षीण पड़ गये तथा तथाकथित तेज-तर्राक प्रगतिवाद भी मानववादी स्वर और स्वभाव का होना लगा। और फिर कुछ साल हुए जैसे-जैसे युगीन राजनीतिक गरमाने लगी और आम आदमी के जीवन में जोश और उबाल लाने लगी वैसे-वैसी फिर पहले वाला प्रगतिवाद अथवा राजनीतिक मुखड़ा दिखाने लगा और वैयक्तिक रुचि की रचनाशीलता समाजसापेक्ष होकर भी निर्वैयक्तिक वस्तुवत्ता को व्यक्त करने लगी।

प्रश्न : भारतीय प्रगतिवाद तत्कालीन समाज का देशव्यापी स्फुरण था अथवा मार्क्सवादी साहित्य की देन?

उत्तर : अपने देश में सन्' 36 में प्रगतिवाद का प्रारम्भ हुआ था तब देश में नव चेतना का उदय हुआ था और उस उदय में महान् मानवतावादी आदर्श भी प्रस्तुत हुआ था और उसके साथ-ही-साथ मार्क्सवादी विचारधारा भी प्रवहमान हुई थी। तब तक प्रगतिवाद की मानसिकता संकीर्ण नहीं हुई थी और सबको लिए हुए, हिन्दी साहित्य के छायावाद से निकलती, जनवाद की ओर ले चल रही थी। बाद में जो संकीर्ण मानसिकता आयी वह उग्र राजनीति की देन थी, जिससे हिन्दी साहित्य का वह 'वाद' विभक्त होने लगा और फिर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के हामीदार तथा कपिल बौद्धिकों ने अपनी डफली अलग बजायी और तब प्रयोगवाद से लेकर तरह-तरह के नये वाद निकाले और थोपे गये।

प्रश्न : एक अच्छी कविता आप किसे मानते हैं?

उत्तर : मैं उसे एक अच्छी कविता समझता हूँ जो आदमी की रची हुई होती है और ऐसे रची जाती है कि वह कवि की होकर भी दूसरों की मानसिकता बन सके। क्योंकि उसमें व्यक्त मानवीय आत्मवत्ता, वस्तुवत्ता से निर्मित हुई होती है और दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं, और आदमी को आदमी बनाती हैं, और महान् मानवीय मूल्यों का जीवन जीने की क्षमता प्रदान करती हैं।

प्रश्न : आधुनिक कविता के किस पक्ष को आप प्रशंसनीय दृष्टि से देखते हैं?

उत्तर : आधुनिक शब्द फैशन को व्यक्त करता है। इसलिए कविता अगर फैशन की वजह से रची जाती है तो वह शिल्प की इकाई मात्र होती है और उसमें जीवन का कथ्य, वैज्ञानिक दृष्टि से व्याप्त नहीं होता। इसलिए वह व्यक्ति की दृष्टि होकर भी आधुनिक बोध देकर भी क्षण-जीवी होती है। आधुनिकता जब तक महान् मानवीय मूल्यों से लैस होकर समाजवादी नहीं बनती तब तक वह सर्वग्राह्य नहीं हो सकती और केवल खण्डित विखण्डित मानसिकता ही हो सकती है।

प्रश्न : कविता की जन-जीवन के किस पक्ष से अधिक सम्बद्ध होना चाहिए?

उत्तर : कविता कहीं ऊपर से नहीं आती है बल्कि वह जन-जीवन से ही उपजती है और जन-जीवन में ही समाहित होती है। यह जन-जीवन कई वर्गों में विभाजित वर्गबद्ध समाज है। सभी वर्गों के लिए, उसके वर्गीय श्रुतिकार, कार्य-हित भी रचनाएँ करते हैं। इसलिए मैं इस वर्गबद्ध समाज में उस वर्ग से सम्बद्ध कविता को महत्त्व देता हूँ जिस वर्ग के लोग शोषण, अपहरण और असमानता को समाप्थ करने के लिए संघर्षरत हैं और वही संख्या में भी बहुत हैं और वही अब तक आदमी नहीं समझे जाते।

प्रश्न : 'नयी कविता' और 'प्रतिवादी कविता के विचारों में आपके दृष्टिकोण से क्या अन्दर है?

उत्तर : 'नयी कविता' केवल उन बौद्धिकों की मानसिकता की कविता है जो केवल अपने लिए जीवन जीते हैं। उस जीने में जो उनकी निजता होती है उसी को

व्यक्त करने में वे अपनी मानवीयता की महिमा और महत्ता समझते हैं और उसी को वे असली कविता समझते हैं। 'प्रगतिवादी कविता' इतिहास की उस मानसिकता की कविता होती है, जो मानसिकता समाजवादी या मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को प्राप्त करके निर्मित होती है और जिसके द्वारा दूसरों की वैसी ही मानसिकता बनने की प्रक्रिया चल निकलती है और व्यक्ति, व्यक्ति से जुड़ता चला जाता है और मानवीय मूल्यों की निरन्तरता बराबर बनी रहती है।

प्रश्न : प्रगतिवादी काव्य-साहित्य लुप्त होता जा रहा है? क्या कारण है?

उत्तर : प्रगतिवादी काव्य-साहित्य मुझे तो नहीं लगता कि लुप्त होता जा रहा है। वह अब तो और भी जोरों से राजनीतिक उभार लेकर और अधिक जोश से आगे आ रहा है और छोटी-छोटी पत्रिकाओं व काव्य-संकलनों में स्थान पा रहा है। जैसे-जैसे आम आदमी की राजनीतिक चेतना, वैज्ञानिक समाजवाद और मार्क्सवाद से, विकसित होती चलेगी, वैसे-वैसे प्रगतिवादी काव्य-साहित्य प्रमुख-से-प्रमुखतर होता चलेगा।

प्रश्न : नागार्जुन, त्रिलोचन शास्त्री और आपको 'दूसरे सप्तक' में सहयोगी कवि बनने के लिए निमन्त्रण दिया गया था? आपने दो टूक शब्दों में सहयोग देने से इन्कार कर दिया था, इस इन्कार के पीछे क्या भावना थी?

उत्तर : कविता में सभी कुछ मानसिकता के रूप में प्रकट होता है। इसलिए जन-जीवन के वही पक्ष उस मानसिकता में स्थान पाते हैं, जो जन-जीवन को जीवन्त बनाते हैं और आदमी को टूटने से उबारकर न्याय और समता को प्राप्त कर सकने की आस्था और विवेक देते हैं। दूसरे सप्तक में लेने के लिए मुझसे कविताएँ माँगी गयी थीं, लेकिन जो कविताएँ उसके लिए चुनकर मुझसे उनके प्रकाशित करने की अनुमति माँगी गयी थी, वे मेरे स्वर और स्वभाव को व्यक्त करनेवाली नहीं थीं, और वे, सही में, मेरी मानसिकता व्यक्त नहीं करती थीं इसलिए मैंने अनुमति देने से इनकार कर दिया और माँगने वाले को यह लिखकर भेजा कि यदि 'सप्तक' में मेरे मन की चुनी हुई कविताएँ आ सकें, तो मैं उन्हें भेजूँ और उन्हीं को छापा जाय। उन कविताओं में से मेरी चुनी हुई एक कविता का नाम था–''एक सौ दस का अभियुक्त''। मैं जानता था–वह उस संकलन में नहीं जा सकती थी। बात समाप्त हो गयी है। मैं 'सप्तक' का कवि नहीं हो सका और न उसका कवि होकर अपनी कविता की धारा बदल सका।

प्रश्न : प्रगतिवादी काव्य के परिप्रेक्ष्य में आप बता सकेंगे कि जीवन की वास्तविक पकड़ प्रगतिवादी काव्य में ही अधिक क्यों है?

उत्तर : ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन संसार की समस्याओं को सही ढंग से समझने में सहायक होता रहा है। इसलिए वे प्रगतिवादी ही वस्तुवत्ता को सही ढंग से पकड़ते रहे हैं और उसकी तह में जाकर विकृतियों और विसंगतियों से अवगत होते रहे हैं और फिर उनसे अपनी मानसिकता निर्मित करते रहे हैं, ताकि वे अपनी निजता में खो न सकें, अपितु अपनी रचना-धर्मिता को आत्मवत्ता से जोड़कर भी, प्राप्त

की हुई वस्तुवत्ता को काव्य की सृष्टि बनाकर दूसरों को समर्पित कर सकें। इसलिए प्रगतिवादी कवियों में ही जीवन की वास्तविकता की अधिकाधिक पकड़ मिलती है।

प्रश्न : प्रगतिवादी कविता का भविष्य–इस पर आपके क्या विचार हैं?

उत्तर : प्रगतिवादी काव्य का भविष्य निश्चय ही अच्छा और सुन्दर है; क्योंकि वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति पर चल रहे मानव-जीवन को किसी-न-किसी दिन अपने देश और समाज का ऊपरी ढाँचा बदलना ही पड़ेगा और बिना बदले आदमी का उद्धार नहीं होगा और न ही वह समता और न्याय भी पा सकेगा। यही तो मार्क्सवाद कहता है कि शोषणहीन समाज बने। आदमी निजता से निकलकर ऐसी इकाई बने, जो समष्टि की हो सके और मानव-अधिकारों को निरन्तर पुष्ट किये रहे।

प्रश्न : हृदयपक्ष की रागात्मकता व लय का निर्वाह आपकी समझ में प्रगतिवादी काव्य-रचना में कितना महत्त्वपूर्ण है?

उत्तर : कोई भी काव्य हो, केवल बौद्धिक काव्य होकर मानवीय काव्य नहीं हो सकता। हृदय को त्यागकर केवल मस्तिष्क से जो काव्य लिखा जाता है। वह केवल रचयिता की अपनी सम्पत्ति होता है और उसका कोई मानवीय मूल्य दूसरों के लिए नहीं होता। रागात्मकता के बिना मानवीय सम्बन्ध न ही बनते हैं और न ही विकसित होते हैं और कविता जब तक सम्बन्धों से नहीं उपजती, तब तक वह दूसरों के लिए या तो अबूझ पहेली बन कर रह जाती है अथवा रहस्यमयता से आवेष्टित रहती है। इसलिए प्रगतिवादी काव्य में वही कविताएँ सर्वग्राह्य हो सकती हैं, जो मार्क्सवादी दार्शनिक जीवन-दृष्टि से वस्तुवत्ता को भेदकर आम आदमी की मानसिकता से सक्रिय होती हैं और रचना में रची जाकर उस भाषा से और लय से रूपायित होती हैं, जो अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को सम्प्रेषणीय होती हैं। कविता गद्य होकर या गद्य की लय पर चलकर कविता नहीं रह जाती। अकविता लिखी गयी। लयविहीन कविताएँ प्रस्तुत की गयीं। बौद्धिक कृतियों का जमाव लग गया। लेकिन इनको आम आदमी ने स्वीकार नहीं किया।

प्रश्न : काव्य-जगत् के नित्य नये बदलते फैशनों के कारण प्रगतिवादी कविता, नयी कविता से पीछे रह गयी है, ऐसी क्यों?

उत्तर : जो लोग यह कहते हैं कि आज के युग में, नित्य नये बदलते काव्य-फैशनों की वजह से प्रगतिवादी कविता 'नयी कविता' से पीछे रह गयी है, वह भ्रमवशात् ऐसा कहते हैं। उन्हें देखना चाहिए कि जिसे वे, सब-की-सब को, नयी कविता समझते हैं, वह, सब-की-सब नयी कविता के दायरे में नहीं आती, बल्कि उसका कुछ ही अंश नयी कविता होता है और शेष बड़ा अंश निश्चय ही या तो प्रगतिवादी अथवा प्रगतिशील कविता का ही विकसित रूप होता है। स्वयं नयी कविता विकासविहीन निजता की इकाईमात्र होती है। वह न तो दूसरे व्यक्ति को बदल सकती है, न समाज को प्रेरित कर सकती है। इसलिए निरन्तर इस दृष्टि से ही वह देखते रहना

चाहिए कि जो कविताएँ लिखी जा रही हैं, वे, सब-की-सब, नयी कविता के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं और मैं इसी तरह से कविताओं को देखता और समझता हूँ। मुझे इसीलिए नयी कविता खतम हो चुकी मालूम होती है और प्रगतिवादी अथवा प्रगतिशील कविता उत्तरोत्तर विकसित होती हुई, बलवती और प्रेरक होती चली जा रही लगती है।

प्रश्न : आपने रचनाएँ मार्क्सवाद से प्रेरणा लेकर लिखीं या भारतीय दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए?

उत्तर : मार्क्सवाद एक जीवन-दर्शन है, जो किसी एक देश का नहीं है और न ही किसी विशेष देश का है। वह सार्वदेशिक जीवन-दर्शन है, जो आदमी को महान् मानवीय मूल्यों से विरचित जीवन की ओर ले जाता है। मार्क्सवाद का जीवन-दर्शन उस भारतीय दृष्टिकोण से निश्चय ही मेल नहीं खाता, जिस दृष्टिकोण को लेकर देश में यथास्थिति को बराबर बनाये रखने की दलील दी जाती है और ..... धर्म और धर्मान्धता को प्रश्रय देते हुए आदमी-आदमी के बीच की दूरी, वर्ग के हित में बनाये रखी जाती है। यह दृष्टिकोण सचमुच में भारतीय चिन्तकों का दृष्टिकोण नहीं है। भारतीय जीवन को तो श्रेष्ठतम चिन्तन-पद्धति से विश्वबन्धुत्व की ओर ही जाना चाहिए और वह उसी ओर जाकर ही वास्तविक मानवतावाद की उपलब्धि कर सकता है, अन्यथा तथाकथित संकुचित वृत्ति के भारतीय दृष्टिकोण से विषमता-ही-विषमता और वर्गभेद-ही-वर्गभेद बना रहेगा और आदमी-आदमी से लड़ता-झगड़ता, मरता-खपता रहेगा।

प्रश्न : आपके लिए मूलत: सौन्दर्य प्रकृति में है। क्या आप नारी-सौन्दर्य को गौण मानते हैं?

उत्तर : सौन्दर्य प्रकृति में भी है और नारी में भी, यह तो कवि-कवि पर निर्भर है कि वह अपने जीवन में प्रकृति के सौन्दर्य से सम्बद्ध हुआ है या कि नारी के सौन्दर्य से अथवा दोनों के सौन्दर्य से, मेरी रचनाओं में दोनों को समान स्थान मिला है। प्रकृति भी उतनी ही आकर्षक और प्रेरक होती है, जितनी नारी। प्रकृति भी मानवीयकरण पाकर दूसरे व्यक्तियों के लिए सुन्दर हो जाती है, वैसे ही नारी भी सुन्दर निरूपित की जाती है। नारी के सौन्दर्य में आदमी के जीवन की सहयोगिनी का सौन्दर्य भी होता है और नर और नारी दोनों ही एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हुए सौन्दर्य को उत्तरोत्तर मानवीय बनाते हैं और दोनों के सहयोग से सृष्टि भी सुन्दर हो जाती है। मैंने अपनी पत्नी पर कविताएँ लिखी हैं। दूसरों को देखकर, उनसे प्रभावित होकर, उन पर भी कविताएँ लिखी हैं। कर्मठ कामकाजी औरतों और क्रान्तिकारी नारियों पर भी रचनाएँ की हैं। प्रकृति भी कहीं-कहीं नारी के रूप में व्यक्त हुई है। इसलिए यह कल्पना सटीक न होगा कि मैं मूलत: प्रकृति के सौन्दर्य का कवि हूँ और नारी के सौन्दर्य का गौण कवि हूँ। यह विभाजन-रेखा नहीं बनायी जा सकती।

प्रश्न : आपने कवि-जीवन का आरम्भ प्रेम और शृंगार के रूमानी कवि के रूप में किया, ऐसा जीवन में कौन-सा परिवर्त्तन आया कि आप प्रगतिवादी रचनाएँ लिखने लगे और आज भी लिख रहे हैं।

उत्तर : प्रेम, शृंगार और रोमान्स की अनुभूतियों से होते हुए मैंने यथार्थ का जीवन जिया, समझा और तब मेरे प्रेम, शृंगार, रोमान्स से बने व्यक्तित्व ने ही मुझे अधिक गहराई से, समाज से जोड़ा और मैं दूसरों के लिए उसी लगन से कविताएँ लिखने लगा, जिस लगन से अपनी सहानुभूतियों की, निजी स्तर की अनुभूतियाँ की, कविताएँ लिखता था। यह परिवर्त्तन सन्' 34 से आने लगा था और सन्' 38 से तीव्रतर होता गया और अबतक मैं वैसा ही लिखने के लिए समर्पित बना हुआ हूँ।

प्रश्न : प्रारम्भ में आपके गीत 'माधुरी' में प्रकाशित हुए, क्या आपकी इच्छा गीतकार बनने की थी?

उत्तर : 'माधुरी' में कवित्त-सवैये और छन्दबद्ध कविताएँ छपीं और गीत तो सम्भवत: दो-ही-एक छपे होंगे। जो गीत मैंने सन् 36-37 में लिखे या बाँदा आकर वकील होने के बाद फिर लिखे, वे गीत मैंने इसलिए नहीं लिखे कि मैं गीतकार बनना चाहता था, बल्कि मैंने, गीतमय मनोदशा में पहुँचने के बाद, उन्हें लिखा है। मैं गाकर कविता कभी नहीं पढ़ सका और न मैंने संगीत की कोई साधना ही की है और न ही मैं मंचीय कवि बनने का इच्छुक रहा हूँ। गीत एक विधा है। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में कभी-न-कभी तो गीतमय मनोदशा में पहुँचता ही है और यदि वह रचनाकार भी हुआ, तो वह भी गीत लिख सकता है। गीत लिखने का यह मतलब कदापि नहीं होता कि लिखने वाला कविताएँ नहीं लिखता। कविता लिखनेवाला निश्चय ही जब भी कभी गीत लिखेगा, तो मार्मिक-अनुभूतियों की पूरी कलात्मकता प्रदान करके लिखेगा। जो गीतकार आज गीत लिख रहे हैं, उनमें से बहुतेरे काव्य के संस्कारों से सम्बद्ध होकर और उनसे अपने को माँजकर नहीं निकले हैं, इसलिए उनके गीत केवल गेय होकर ही रह जाते हैं और कविता की कोटि तक नहीं पहुँच पाते। अच्छा कवि जब भी लिखेगा, अच्छे गीत लिखेगा।

प्रश्न : अपने 'केन नदी' का चित्रण बहुत किया है, केन आपको इतनी प्रिय क्यों है?

उत्तर : मैं कभी वाचाली स्वभाव का अथवा बड़वड़िया नहीं रहा। बुजुर्गों ने अनुशासन से बाँधा और मुझे कम बोलनेवाला बना दिया। इसलिए मैं समाज के दूसरे लोगों से प्रारम्भ में घनिष्ठ नहीं हो सका और एकाकी रहने की वृत्ति से केन नदी तक जाने लगा, उससे उत्तरोत्तर गहरे मनोभाव से जुड़ने लगा, वह मुझे चुपचाप बहुत अनुभूतियाँ देने लगी और मैं उसे प्यार करने लगा। वह मेरी चेतना की नदी बन गयी। मैं उसकी अभिव्यक्ति करने लगा। इसके अतिरिक्त वह मेरे नगर की, वास्तव में, सबसे प्यारी जीवन-धारा है, जहाँ नगर की सभी जड़ता धुल जाती है और भावों की तटस्थता तरंगित होने लगती है।

प्रश्न : आप कवि-सम्मेलनो को आवश्यक मानते हैं, पर स्वयं कवि, सम्मेलनों में कम जाते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर : कवि-सम्मेलनों का आयोजन हमारे देश में जनता से साक्षात्कार करने के लिए और उनसे सम्बन्धित होने के लिए परम आवश्यक है। विराट् कवि-सम्मेलन होने चाहिए। नगर की सारी जनता को कवि-सम्मेलन में जाना चाहिए। यह एक ऐसा साहित्यिक मंच होता है, जो कवि की मानसिकता से दूसरों की वैसी ही मानसिकता बनाने में परमसहायक होता है। श्रोता कृतियों में व्याप्त अपने आस-पास के जीवन से अवगत होते हैं और स्वयं को समझते हैं और समझ-बूझकर दिशाहीन होने से बचकर, दिशा-दृष्टि को पाते हैं और तदनुरूप अपने संस्कार बनाते हैं। आजकल कवि-सम्मेलन केवल हल्के ढंग के सिनेमाई गान-सम्मेलन हो गये हैं। यह अच्छा नहीं हुआ है। आयोजकगण इसके लिए दोषी हैं। इसलिए कवि-सम्मेलनों क उद्धार किया जाना चाहिए। यदि ऐसा न हुआ, तो कविता, चाहे जितनी भी, जहाँ भी छपे, केवल कुछेक गिने-चुने व्यक्तियों तक ही पहुँच पाती है और अपना मानवीय संस्कार बनानेवाला काम नहीं कर पाती। इसलिए जब कवि और जनता आमने-सामने संवाद में निरन्तर आते रहेंगे और कविता लिखते-पढ़ते सुनते-सुनाते रहेंगे, तो कवि भी अधिक जनवादी बनेंगे और कविता भी अधिक जनवादी बनेगी और कवियों का अपना निजी वैयक्तिक घेरा भी चरमरा कर टूटेगा और उनकी अहम्मन्यता विगलित होगी और उनका और श्रोताओं का आत्मवत्तीय और वस्तुवत्तीय सम्मिलन होगा। इसलिए मैं कवि-सम्मेलनों को आवश्यक समझता हूँ। मैं स्वयं अच्छा वाचक नहीं हूँ, इसलिए अपनी अच्छी कविता भी यदि सुनाऊँ, तो वह प्रभावहीन होगी।

प्रश्न : वाल्मीकि, तुलसी और निराला के काव्य से आपको कुछ प्रेरणा मिली है?

उत्तर : वाल्मीकि ने मुझे दृष्टि दी कि राम महापुरुष थे, भगवान् नहीं। आदमी चाहे जितना बड़ा हो जाय, वह भगवान् नहीं होता। आदमी ही जीवन जिये और जीवन की समस्याओं से टकराये और जीवन की, आदमियों के लिए, कर्म से सुन्दर और सहज, और आदर्श बनाये। तुलसी ने राम को भगवान् बनाया यह मुझे अच्छा नहीं लगा। तुलसी ने देवों की और दानवों की खुलकर और छिपकर जगह-जगह, भर्त्सना की, यह मुझे बेहद अच्छा लगा। नारद-मोह निहायत अच्छा लगा, क्योकि बड़े लोगों की वासना का बुरी तरह से नाटकीय मखौल उड़ाया गया। तुलसी ने लक्ष्मण और परशुराम-संवाद के द्वारा दोहा और चौपाई को सहज जी रहे आदमी के और घमण्डी और प्रतापी आदमी के बीच चल रहे संवाद के रूप में प्रस्तुत किया। लक्ष्मण आम आदमी की तरह और परशुराम घमण्डी आदमी की तरह बोलने लगते हैं। लक्ष्मण की बामुहावरा बानी, परशुराम की घनगर्जनी वाणी को कुण्ठित करती है। लक्ष्मण का मनोबल बढ़ता है। परशुराम का मनोबल परास्त होता है। अवधी भाषा अपने पूरे ढंग से समुद्र की तरह लहरायी है और उसने अवध को छोड़कर वनवास के बाद से लंका की विजय तक मूल मानवीय भावनाओं और विचारों को उकेरा और सँवारा है। इसलिए

तुलसी भी प्रेरणा प्रदान करते हैं कि जो लिखूँ, वह जीवन-चरित्र होकर आम आदमी की मानसिकता को व्यक्त करे।

प्रश्न : सम्पादकों, प्रकाशकों और रेडियो आदि सरकारी संस्थाओं ने शुद्ध-शुद्ध में प्रगतिवादी कवियों की उपेक्षा क्यों की?

उत्तर : प्रगतिवादी की शुरुआत के दिनों में तो उसका बोलबाला रहा, लेकिन बाद को, जब प्रान्त में अपनी सरकार बनी, तब अवश्य प्रगतिवादियों पर सरकारी हमले शुरू हुए और प्रचार-तन्त्र के माध्यम से अखबारों और साप्ताहिकों ने कम्युनिज्म का हौआ खड़ा करके प्रगतिवादियों की उपेक्षा करायी गयी कई प्रगतिवादी लेखक पकड़े गये, जेल भेजे गये, 'हंस' बन्द किया गया, प्रगतिवादी पत्रिकाओं से जमानतें माँगी गयीं-उन सबको सताया गया और फिर अब तक, आज तक वैसा ही तो नहीं, उससे कुछ कम, प्रगतिवादियों को उपेक्षित ही किया जाता है। इसके लिए हमारे देश की धर्मान्धता, रूढ़िवादिता और प्रतिक्रियावादिता जिम्मेदार है, जिसके ठेकेदार बड़े-बड़े पण्डित, विद्वान् और तमाम परम्परावादी संस्थाएँ और शक्तिसम्पन्न पुरुष हैं।

प्रश्न : आपके एक हाथ में 'विधि' की तलवार रही है तथा दूसरे हाथ **मैं** गरीबों की हमदर्द कलम? समाज को अधिक लाभ तलवार से हुआ है या कलम से अथवा दोनों से?

उत्तर : 'विधि' की तलवार मैंने न तो पकड़ी है और न चलायी है, कलम जरूर चलायी है। वकालत मैंने की तो मेरी कविता को तर्क और विवेक से सहयोग पाकर, जनपक्ष तक पहुँचने की अवसर मिला और वह जन-जीवन को व्यक्त करने लगी। वकालत मैंने सच को झूठ और झूठ को सच करने के लिए नहीं की, न ही निर्दोष को दोषी ठहराने के लिए की, न ही किसी की किसी से साँठ-गाँठ कर की, किसी की सम्पत्ति अपहरण करने के लिए की। वकालत मैने विवेक से और बुद्धि से, आम आदमी का हमदर्द होकर, सच-को-सच और झूठ-को-झूठ साबित करने के लिए की। वह मेरे कमजोर हाथ को विवेक का बल देकर सही दिशा में कलम चलाने के लिए प्रेरित करती रही और मेरी वकालत और मेरी कविताएँ सहधर्मिणी होकर मेरे साथ जीती हैं। मेरी कलम से जिस किसी को लाभ हुआ है, वह लाभ उतना वैसा लाभ नहीं है कि उसके लिए मैं आदमी होने का गर्व और गौरव महसूस करूँ। कविता में मेरी चेतना व्यक्त हुई है और मैं स्वयं अपनी कविता से उत्तरोत्तर दूसरों की मानसिकता में प्रविष्ट होता चला गया हूँ और वे और मैं नये-नये रूपों में प्रकट होते गये हैं। यह काम मैं लाभ की दृष्टि से नहीं, बल्कि जीवन-धर्म की दृष्टि से, मानवीयता को पल्लवित करने की दृष्टि से करता रहा हूँ।

प्रश्न : आपका विचार है कि 'प्रगतिवाद' कभी मर नहीं सकता, प्रगतिवाद के इस अमरता का क्या कारण है?

उत्तर : प्रगतिवाद की अमरता का कारण है उसका निरन्तर विकसित हो रहे

मार्क्सवादी जीवन-दर्शन पर अवलम्बित होना। शताब्दियों से यह क्रम चला आ रहा है, जो लोग कहते हैं कि मार्क्सवाद मर गया वे विकसित हो रहे मार्क्सवाद की ओर से, जान-बूझकर, अपनी आँखें मूँदे रहते हैं, ताकि वे, अपने दूसरे तरह के 'वादों' से, 'मैनेजरवाद' से या अपने थोथे मानवतावाद से वर्गभेद बनाये रहें और धनी का धनी होना बन्द न हो, न गरीब का गरीब होना बन्द हो।

प्रश्न : आधुनिक कविता में विदेशीपन क्यों है? इससे कोई हानि तो नहीं है?

उत्तर : कविता-हमारे देश की हिन्दी कविता भी-विदेशीपन अपना रही है और आधुनिक हो रही है, ऐसा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। हमारे देश के सम्बन्ध संसार के दूसरे देशों से गहरा रहे हैं और हम अपने देश की राजनीति को दूसरे देशों की राजनीति से, तालमेल में लाकर विकसित कर रहे हैं और इस तरह से देशवासियों की मानसिकता में व्याप्त देशीपन में कुछ विदेशीपन को समाहित कर रहे हैं और अपने मानवीय संस्कारों को, नये ढंग से, निरूपित करते हुए, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्वभाव के संस्कार दे रहे हैं। इसलिए जीवन-दर्शन की व्यापकता के लिए जो वैदेशिक बदलाव अपनी कविता में हम ला रहे हैं, वह विदेशी बनने के लिए नहीं ला रहे, वरन् संसार नागरिक बनने के लिए ला रहे हैं। इसलिए केवल उन्हीं विदेशी प्रभावों को, यानी अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों को हम अपनी राष्ट्रीयता में लाते हैं, जो हमारी राष्ट्रीयता को संकीर्ण और संकुचित नहीं बनाते, बल्कि वे उसको नये अन्तर्राष्ट्रीय मानसिक आयाम देकर समता और न्याय की अवतारणा के अवसर प्रदान करते हैं। वे ही अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव हानिकर हैं, जो पतनशील भावों और विचारों के संवाहक है। इसलिए केवल वैयक्तिक स्वतन्त्रता के समर्थक होने से कोई लाभ नहीं होता, जबकि वह स्वतन्त्रता केवल निजी स्तर से ही आबद्ध रखती है और दूसरों तक नहीं पहुँचने देती। इसलिए 'नयी कविता' निजत्व में खो गयी कविता है, समष्टि की नहीं है। इसलिए जीवन-दर्शन के वगैर केवल क्षणिक अनुभूतियों से, लिखी जानेवाली रचनाएँ भी बेकार सिद्ध होती हैं और हित के बजाय अनहित ही करती हैं।

प्रश्न : मार्क्स के ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने आपके विचारों को काफी प्रभावित किया, आपकी क्या राय है?

उत्तर : ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मुझे आदमी बना रहा है, मैं आदमी बनता जा रहा हूँ, वस्तुवत्ता को समझता जा रहा हूँ और आत्मवत्ता को जीवन-दर्शन से सविवेक निर्मित करता चल रहा हूँ, ताकि मेरी रचनाएँ मेरी होते हुए भी दूसरों को सम्प्रेषणीय हो सकें और उनकी मानसिकता बदले और एक शोषणहीन मानसिकता का प्रसार होता चले।

प्रश्न : 'नयी कविता' के 'मिथकों' का आप उग्र विरोध क्यों करते हैं?

उत्तर : नयी कविता 'मिथकों' का उपयोग करती हुई कालजयी होने का दुस्वप्न ही देखती है। 'मिथकों' से आपका जीवन निरूपित नहीं किया जा सकता। 'मिथक'

चाहे जैसे हों, मिथक ही रहते हैं। एक पूर्व निर्धारित किये हुए और जिये हुए चरित्र की गाँठ को आज के आदमी के लिए उपयोग में नहीं लाया जा सकता। मिथकीय युगों की समस्याएँ और समाधान भिन्न थे। और आज के भी नितान्त भिन्न हैं। 'मिथक' किसी-किसी युग में एक कड़ी थे और तब वे, किसी प्रकार से सही, किसी के लिए सही अर्थपूर्ण हुए होंगे। लेकिन इस प्राविधिक और वैज्ञानिक युग के संसार के देशों में आदमी को मानसिक बनाने के लिए उनका उपयोग नहीं करना चाहिए। मैं इसको आदमी के लिए उपयुक्त नहीं समझता और न ही इससे महान् मानवीय मूल्यों की विरासत विकसित की जा सकती है।

प्रश्न : शिल्प की दृष्टि से आपने कौन-से नये प्रयोग किये हैं?

उत्तर : शिल्प को मैंने अपने कथ्य से अलग, उसे और अपने को जिलाये रखने के लिए नहीं पाला है। वह मेरे जीवन और देश के जीवन के घटनाक्रम से अपने-आप वैसा बनता चला गया है। मेरी कविता में जो कुछ व्यक्त होता चला आया है, वह थोड़े में अधिक कहने के लिए, कुछेक शब्दों के प्रयोग से, मेरे कथ्य को संवेग और सटीक ढंग से व्यक्त करने के लिए ही, और मेरी रचना को कलात्मक करने के लिए ही व्यक्त हुआ है, वही शिल्प है। शिल्प का अपना अलग, एकाकी न तो अस्तित्व है और न महत्त्व है, मैं ऐसा मानता हूँ।

प्रश्न : 'गुलमेंदही' आपकी कविताओं का नया संग्रह प्रकाशित हुआ है। 'गुलमेंदही' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर : 'गुलमेंहदी' एक सहज साधारण मौसमी फूल का पेड़ होता है, जो सभी जगह देखा जा सकता है। इसी फूल के पौधे पर मेरी एक कविता है। उसी के नाम पर 'गुलमेंदही' काव्य-संकलन प्रकाशित हुआ है।

प्रश्न : छोटे और गरीब आदमियों के बारे में आपने बहुत रचनाएँ लिखी हैं, इसका कारण क्या है?

उत्तर : मुझे अपने जीवन में जितने छोटे और गरीब आदमी मिले, वे उन सभी बड़े व ओहदेदारों व शक्तिसम्पन्न पैसेवालों से ज्यादा ही चरित्रवान् और कर्मठ आदमी लगे और वही जीवन जीने के लिए सौ-सौ तकलीफें उठाते हैं और कष्ट-पर-कष्ट झेलते हैं। फिर भी, आदमी की तरह जीने के लिए वे ललकते और जीवन की आग और आँधी को पकड़ते और मरते-खपते रहते हैं। मैं उन्हीं की मानसिकता को अपनी मानसिकता की तरह बनाने के लिए, अपनी अधिकांश कविताएँ लिखता रहा हूँ। मैं सामाजिक कार्यकर्त्ता नहीं रहा हूँ। इसलिए अपनी वाणी को लिपिबद्ध करके उन तक पहुँचाने में ही अपने आदमी होने की सार्थकता समझता रहा हूँ।

प्रश्न : जिस प्रकार आप अपने जीवन में मनुष्य के शोषण और उसके जीवन की विडम्बनाओं के प्रति सचेत रहे हैं, यदि इसी प्रकार प्रत्येक कवि सचेत रहें, तो समाज और कविता का भविष्य कैसा रहेगा?

उत्तर : मेरे या किसी भी दूसरे आदमी के, मेरी तरह, सचेत रहने पर भी समाज और कविता का भविष्य सुन्दर हो जाय, ऐसा कह सकना कठिन है; क्योंकि समाज तो करनी से बदला जाता है और सही जीवन-दर्शन से सबके लिए सुन्दर बनाया जाता है। कविता से तात्कालिक समाज-परिवर्तन की अपेक्षा कतई नहीं की जा सकती। कविता तो संस्कार और मानसिकता बनाती है और इसमें समय लगता है। इसलिए कविता से भविष्य में समाज के सुधारने की कल्पना की जा सकती है; लेकिन आज अभी, उससे ऐसी आशा करना सारगर्भित नहीं है। कवि की कविता तभी परिवर्त्तन कर सकती है, जब वह अपने कवि के परिवर्त्तन करनेवाले जीवन की गतिविधियों से सम्बद्ध होती है। तब नागरिक की हैसियत से कवि समाज बदलता है, कवि की हैसियत से नहीं। इसलिए मैं तो कविता को मानसिकता बदलने मात्र का साधन मानता हूँ।

❐

केदारनाथ अग्रवाल
का रचना संसार